

राजस्थान साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग
से प्रकाशित

सृजन के परिप्रेक्ष्य

लेखक
डा० दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

श्याम प्रकाशन, जयपुर-302003

मूल्य : साठ रुपये

प्रथम संस्करण : 1986

प्रकाशक
श्याम प्रकाशन
फिल्म कालोनी, चौड़ा रास्ता
जयपुर-302003

मुद्रक : शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32

SRIJAN KE PARIPRAKSHYA (Criticism)
By Dr. Durga Prasad Agrawal Rs. 60.00

गुरुवर डॉ० प्रकाश आतुर को

दो शब्द

'स्वातन्त्र्योत्तर राजस्थान का हिन्दी उपन्यास' विषय पर शोध करते हुए तथा कुछ अन्य कारणों से राजस्थान के लेखन के निकट सम्पर्क में रहने के कारण बहुत सारी बातें मन में आकर ग्रहण करती रही हैं। अब मुझे लग रहा है कि उनमें से कुछ बातों को मन की दीवारों से बाहर लाना जरूरी है। यही कारण है कि इस संकलन का एक खण्ड राजस्थान के सृजन पर केन्द्रित है। इस खण्ड के साथ ही कुछ अन्य आलेख भी है, जिनमें मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहीं मैं यह भी स्वीकार कर लेना जरूरी समझता हू कि राजस्थान के सृजन का मूल्यांकन करते समय मैं कुछ अधिक ही निर्मम रहा हू। शायद इसलिए कि जिससे हम अधिक आत्मीयता महसूस करते हैं उससे हमारी अपेक्षाएं भी अधिक ही होती हैं।

बहरहाल, इस पुस्तक को मैं एक शुरुआत के रूप मे प्रस्तुत कर रहा हू, यह जानते और स्वीकारते हुए कि इसमे आरम्भिक प्रयास वाली सारी कमजोरियां हैं; तथा इस अनुरोध के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं कि आप इस चर्चा को आगे बढाए। आपकी बेबाक प्रतिक्रिया इस प्रयास मे मेरी सहायक सिद्ध होगी।

पुस्तक के प्रकाशन हेतु अनुदान प्रदान करने के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी के प्रति, बहुमूल्य सहयोग के लिए डा० हेतु भारद्वाज के प्रति, सार्थक सुझावों के लिए डा० विमल के प्रति और सुरुचिपूर्ण प्रस्तुति के लिए ओमप्रकाश अग्रवाल, श्याम प्रकाशन के प्रति कृतज्ञ हूं।

—दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय,
सिरोही-307001

अनुक्रम

राजस्थान में हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास (स्वाधीनता प्राप्ति तक)

यह तथ्य बहुत अधिक विस्मयजनक लगता है कि व्यापक कथा-परम्परा वाले प्रान्त राजस्थान में उपन्यास का उद्भव तो अन्य प्रान्तों के साथ-साथ हुआ परन्तु विकास, गति की दृष्टि से अत्यन्त मन्द रहा है। इससे भी अधिक आश्चर्योत्पादक तथ्य यह है कि इस विकास का समुचित आकलन करने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है। विभिन्न अध्येताओं ने राजस्थान के प्रथम उपन्यास के बारे में परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये हैं। इन विरोधी मतों के मूल में सामग्री उपलब्ध न होना एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। यह भी एक तथ्य है कि राजस्थान में उपन्यास लिखे तो पर्याप्त मात्रा में गये परन्तु अपेक्षया अविकसित प्रान्त होने के कारण न तो यहां छापेखाने की सुविधाएं प्रसरित हुईं और न यहां के रचनाकार अन्य प्रान्तों में जाकर अपनी रचनाएं प्रकाशित करा पाये। यह दुखद स्थिति कमोबेश अब भी विद्यमान है।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 33वें अधिवेशन पर प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' में सन् 1944 में श्री जनार्दनराय नागर ने लिखा "(राजस्थान में) उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति न्यूनतम है तथा हम यह कह सकते हैं कि दो-एक को छोड़कर अच्छे उपन्यास लेखक के सामने नहीं आये हैं। अवश्य कई नवजवान लेखक अब उपन्यास लिखने लगे हैं। पर अधिकतर कहानियां ही जवान लेखनियों को आकर्षित कर रही हैं।"[1] और इसी पुस्तक में लगभग 20 उपन्यास लेखकों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से अनेक ने एकाधिक उपन्यासों की रचना की। यह अलग बात है कि इनमें से कई उपन्यास प्रकाशित नहीं हो पाये।

खड़ी बोली हिन्दी में 19वीं शताब्दी के आरम्भ में 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'वैताल पच्चीसी', 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान', जैसी कथा रचनाएं तो प्रकाशित होने लगीं परन्तु अधिकांश विद्वान इस रचना 'परीक्षागुरु' (किशोरीलाल गोस्वामी) को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं। उसका प्रकाशन 1882 ई० के लगभग हुआ।[2] इससे लगभग [illegible]

में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना कर ली थी परन्तु उसका प्रकाशन लगभग 10 वर्ष पश्चात् अर्थात् 1887 में हो पाया।[3] इन दोनों रचनाओं को दृष्टिगत रखते हुए इस तथ्य पर दृष्टिपात करें कि राजस्थान में प्रथम उपन्यास 1863 में रचा गया, तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है। राजस्थान की औपन्यासिक परम्परा का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से होता है। आरम्भिक रचना पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा लिखित 'आश्चर्य वृत्तान्त' सन् 1863 ई० मिलती है। यह अपने ढंग की अनूठी काल्पनिक रचना है जिसमें न कोई ऐतिहासिक कथा है, न प्रेमकथा ही। शीर्षक के अनुरूप ही इसमें ऐसी घटनाओं का वर्णन किया गया है जिन्हें पढ़कर आश्चर्य ही किया जा सकता है, विश्वास नहीं।[4] डॉ० गोपालराय ने इस पुस्तक को मत: कल्पना या फेण्टेसी के अन्तर्गत गिना है और इसका प्रकाशन वर्ष 1983 माना है। उन्होंने इसके मुख-पृष्ठ की प्रतिलिपि उद्धृत की है "आश्चर्य वृत्तांत, एक बड़े अचम्भे की बात जिसके आगे जादू, इन्द्रजाल, भूत विद्या आदि सब झख मारे और चुहचुहाती हिन्दी में लहराती कविता और तिस पर भी उपदेश, साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास विरचित, भागलपुर, व्यास यन्त्रालय में गणपति त्रिपाठी के प्रबन्ध से छपा, सन् 1893, पहली बार, 500, पृ० सं० 199।"[5]

इसके पश्चात् 1897 में जयपुर के गोपीनाथ पुरोहित कृत 'वीरेन्द्र' उपन्यास का उल्लेख मिलता है जिसमें वीर एवं श्रृंगार दोनों रसों का मिश्रण है। इसके आवरण पृष्ठ पर रचना का परिचय यों दिया गया है—" 'वीरेन्द्र' अर्थात् वीर शिरोमणि, सचित्र, युवक वीरेन्द्रसिंह सम्बन्धी एक दूरदेशीय ऐतिहासिक घटना का मनोहर उपन्यास, पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए०, जयपुर राज वकील (आबू) ने हिन्दी भाषा प्रेमियों के विनोदार्थ रचना किया, जिसको खेमराज श्री कृष्णदत्त ने स्वकीय श्री 'वेंकटेश्वर' यन्त्रणालय में छापकर प्रसिद्ध किया, सं० 1954, पृ० सं० 21।"[6] इस पुस्तक की भूमिका की ये पंक्तियां इसे मौलिकता के क्षेत्र से हटाकर अनुवाद की सीमा रेखा पर लाकर खड़ा कर देती हैं—"यह एक छोटा-सा उपन्यास कि जो अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक के आधार से रचा गया है, पाठकों के विनोदार्थ अर्पण किया जाता है।"[7]

'आश्चर्य वृत्तान्त' की फेण्टेसी उस युग की उपन्यास धारा के अनुकूल ही है। निश्चय ही ये दोनों उपन्यास आज के मानदण्डों पर खरे नहीं उतरते हैं, अत: इनका महत्त्व औपन्यासिक कम, पारम्परिक अधिक है। 1882 में 'परीक्षागुरु' का प्रकाशन और 1893 में 'आश्चर्य वृत्तान्त' का प्रकाशन—ये दो तिथियां इस यथार्थ को रेखांकित करती हैं कि राजस्थान हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में पीछे नहीं रहा है।

उपर्युक्त दो उपन्यासकार भले ही उपन्यास की शास्त्रीय कसौटी पर थोड़े

हल्के रहें, महता लज्जाराम शर्मा (1863-1931 ई०) की रचनाओं के बारे में कोई सन्देह नहीं है। बूंदी निवासी महता जी के दो उपन्यास 'धूर्त रसिकलाल' व 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' 1899 में प्रकाशित हुए। इनके पश्चात् 'हिन्दू गृहस्थ' (1903), 'आदर्श दम्पति' (1904), 'सुशीला विधवा' (1907), 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' (1907), 'विपत्ति की कसौटी' (1909) और 'आदर्श हिन्दू' (1914-15) प्रकाशित हुए। 'आदर्श हिन्दू' तीन भागों में विभक्त 729 पृष्ठों का वृहद् उपन्यास है। इसका दूसरा संस्करण 1928 में निकला। मेहता जी का एक ऐतिहासिक उपन्यास भी 1914 में प्रकाशित हुआ।

मेहता जी ने अपने उपन्यासों का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए दो बातों की ओर इंगित किया है—'उससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो' तथा 'होनहार प्रजा के चरित्र का रूप अंकित हो।' मेहताजी के 'आदर्श दम्पति' के सन्दर्भ में कहा गया है—'नारी विवशता' की यह कहानी नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' और कृष्णा सोबती के 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में दुहराई गई है। परन्तु जहां इनकी नायिकाएं अनेक पुरुषों की उष्ण वासना की पूर्ति के लिए बनाई गई हैं वहां लज्जाराम शर्मा की नायिका कामातुर पुरुषों का सामना करने के लिए आई है। सकारात्मक नायिका की सृष्टि शर्मा जी की विशिष्ट देन है। वे सोद्देश्य लेखक हैं, इसलिए उनके कथानक की अस्वाभाविकता उतनी खटकती नहीं है। उनकी नायिका हमारी सहानुभूति प्राप्त करती है और उनकी कहानी हमें प्रेरणा देती है।[8]

मेहता जी का 'आदर्श हिन्दू', 'हिन्दू धर्म एवं भारतीय सभ्यता का विजय स्तवन' कहा गया है। विस्तृत आधार फलक वाले इस उपन्यास में तीर्थ यात्रा के वर्णनों के माध्यम से तत्कालीन भारत की धार्मिक और सामाजिक अव्यवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए नायक-नायिका का आदर्शत्व स्थापित किया गया है, लेखक के विचारों का वाहक उपन्यास का नायक है।

उस समय समाज में जो एक नव-शिक्षित वर्ग धीरे-धीरे उभर रहा था और उसमें स्वाधीनता की एक विशिष्ट भावना उदित हो रही थी, उसका दिग्दर्शन कराना तथा उसके आघातों से हो रही पारम्परिक जीवन मूल्यों की क्षति की ओर ध्यान आकृष्ट करना मेहता जी के उपन्यासों का प्रमुखतम उद्देश्य था। श्री प्रेमनारायण टण्डन ने सही ही लिखा है—"ये उपन्यास कलात्मक तत्त्वों के स्थान पर रचना उद्देश्य की दृष्टि से ही अधिक महत्त्व के हैं। इनमें से प्रत्येक में किसी-न-किसी आदर्श का पोषण मिलता है और सुधारवादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है।"

वस्तुतः तिलस्मी, ऐयारी, रहस्य-रोमांच पूर्ण उपन्यासों के युग में सामाजिक

समस्याओं पर सुधारवादी दृष्टिकोण से कलम चलाना दुष्कर कार्य था। यद्यपि पूर्व प्रेमचन्द युग मे इस दुष्कर कार्य का श्रीगणेश हो चुका था परन्तु संख्या एव स्तरीयता दोनों दृष्टियों से महता लज्जाराम उल्लेखनीय हैं। मात्र 16 वर्षो की अल्प अवधि में 9 उपन्यास प्रकाशित कराने वाले इस अति महत्त्वपूर्ण रचनाकार का समुचित मूल्यांकन अभी होना शेष है।

राजस्थान मे हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा के अनेक अध्येताओं ने बूंदी निवासी पण्डित रामप्रताप शर्मा कृत 96 पृष्ठीय उपन्यास 'नरदेव' (1903 ई०) को प्रान्त का प्रथम उपन्यास घोषित किया है।[9] यह एक आदर्शवादी रचना है जिसमे सदाचार और ईश्वर पर आस्था की महत्ता चित्रित की गई है। 'नरदेव' के मुखपृष्ठ पर इसे 'एक उपदेशजनक रोचक उपन्यास' कहा गया है। उपन्यास का कथा विन्यास वाकई रोचक है। परन्तु इसे प्रान्त का प्रथम हिन्दी उपन्यास किसी भी दृष्टि से नहीं ठहराया जा सकता।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ से ही राजस्थान मे ऐतिहासिक उपन्यासों का नियमित प्रणयन भी प्रारम्भ होता है। "जोधपुर के सुप्रसिद्ध इतिहासकार मुंशी देवीप्रसाद द्वारा लिखित 'रूठी रानी' (सन् 1906 ई०) को प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है'''उपन्यास की कहानी पारिवारिक है किन्तु इतिहास का समावेश भी इसमें हुआ है'''मुंशी जी ने इतिहास, पुरातत्व और लोकगाथा के आधार पर मध्ययुग की एक विशिष्टता सम्पन्न रानी और सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक आस्था का ऐसा चित्र अंकित किया है कि उपन्यास में लोकगाथा की सुन्दरता उभर आई है। भाषा मे स्थानीय बोली का पुट है जो वातावरण को वास्तविकता प्रदान करता है।"[10] मुंशी देवीप्रसाद का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'कृष्णाकुमारी बाई' 1916 से पूर्व प्रकाशित हो चुका था। इस उपन्यास की समीक्षा फरवरी 1916 ई० की सरस्वती मे प्रकाशित हुई थी।[11] मुंशी देवीप्रसाद ने 1917 में एक और ऐतिहासिक उपन्यास 'सुप्यार दे की आरती' लिखा, जिसका प्रकाशन 1919 में हुआ। इसी उपन्यास की भूमिका में यह उल्लेख भी है कि मुंशीजी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'स्वप्न राजस्थान' है। महता लज्जाराम शर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'जुझार तेजा' 1914 ई० मे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में और उसके तत्काल बाद 'सभा' से ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। 1928 मे प्रकाशित इस उपन्यास के द्वितीय संस्करण में मेहता जी ने इसकी लोकप्रियता तथा पद्यानुवाद व उर्दू अनुवाद का भी उल्लेख किया है।

फतेहपुर : (सीकर) 'राजपुताना निवासी पं० रामनरेश त्रिपाठी के दो ऐतिहासिक उपन्यास 'वीरांगना' व 'वीरबाला' 1911 में प्रकाशित हुए। 'वीरांगना' का द्वितीय संस्करण 1917 मे 'पद्मावती' नाम से प्रकाशित हुआ।

1918 में अजमेर के पं० शेरसिंह काश्यप का ऐतिहासिक उपन्यास 'आदर्श वीरांगना दुर्गा' प्रकाशित हुआ और इसी का द्वितीय संस्करण 1922 में प्रकाशित हुआ।

इसी के समानान्तर सामाजिक उपन्यासों की परम्परा भी रही। असरापुर (खेतड़ी) राजपूताना निवासी और कलकत्ता प्रवासी बाबू झावरमल दारुका(गुप्त) लिखित सामाजिक उपन्यास 'चन्द्रकुमारी' 1909 में और इन्हीं का 'केसर' 1914 में प्रकाशित हुए। अजमेर के श्री चांदकरण सारदा का 'कालेज होस्टल' तथा अजमेर के ही बाबू रामविलास जी शारदा का 'जोगी की फेरी' 1916 में प्रकाशित हुए। चांदकरण सारदा ने 'कालेज होस्टल' में छात्र-जीवन को वर्ण्य विषय बनाकर आर्य समाज के मतों का प्रतिपादन किया है। कथानक और चरित्र में कोई जटिलता नहीं है। एक आदर्शवादी विद्यार्थी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह करता है, विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त कर व्यापार में लग जाता है और वैदिक रीति से विवाह करता है। वह स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा के प्रेम का मूर्त रूप है।[12] इस उपन्यास का दूसरा संस्करण 1923 में प्रकाशित हुआ। 'जोगी की फेरी' में हिन्दू जाति की क्षति व अधोगति के मूल कारणों को उपन्यास की कथा के माध्यम से चित्रित किया है। पं० गुरुदत्त शर्मा लिखित 'पीयूषधारा' (1917 ई०) का भी उपन्यास के रूप में उल्लेख मिलता है। इस पुस्तक के तृतीय संस्करण (1926) की भूमिका से ज्ञात होता है कि इसकी रचना पचमसिंह शर्मा द्वारा की गई, पर बाद में गुरुदत्तजी ने अपना नाम दे दिया। श्री गोपालराय ने इस पुस्तक के बारे में लिखा है—"यह उपन्यास न होकर पीयूष-धारा नामक दवा का विज्ञापन है। कहानी है कि यमलोक में हलचल मची हुई है, यमराजा चिंतित है कि पृथ्वी से कोई मनुष्य उनके यहां क्यों नहीं आता ? वे सभी बीमारियों को दण्ड देने लगते हैं। बीमारियां निवेदन करती हैं कि पीयूषधारा नामक औषधि ने हम लोगों को पराजित कर दिया है।"[13]

महता लज्जाराम शर्मा ने एक गुजराती उपन्यास 'जीवे जान वो दोस्त' का 'कपटी मित्र' शीर्षक से 1900 में तथा एक अंग्रेजी उपन्यास का अनुवाद 'विचित्र स्त्री चरित्र' शीर्षक से 1903 के लगभग प्रकाशित कराया। 'हिंदी साहित्य कोश भाग2' जैसी प्रामाणिक समझी जाने वाली पुस्तकों तक में इन दोनों को मौलिक कृतियां बता दिया गया है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 1917 ई० तक के इस पूर्व-प्रेमचन्द युग में राजस्थान में भी उपन्यास रचना का सूत्रपात हो चुका था और अनेक रचनाकार समसामयिक विषयों तथा ऐतिहासिक आख्यानों को आधार बना कर उपन्यास रचना कर रहे थे। इस युग की उपलब्धि महता लज्जाराम शर्मा का सृजन तो है ही, मुंशी देवीप्रसाद के उपन्यास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। शेष रचना-

कारों का महत्त्व साहित्यिक कम, ऐतिहासिक अधिक है।

वर्ष 1918 हिन्दी उपन्यास के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस वर्ष से 'प्रेमचन्द युग' का आरम्भ माना जाता है। अब तक हिन्दी उपन्यास की दिशा रहस्य, रोमांच, ऐयारी, तिलस्म आदि थी, प्रेमचन्द के आविर्भाव व प्रभाव से उपन्यास धारा समाजोन्मुख हो उठी। एक मोटे अनुमान के अनुसार, 1901-1917 के काल में हिन्दी में 45 तिलस्मी रोमांस (जिनमें कुछ 20-25 भागों में भी थे) रचे गये, वही प्रेमचन्द युग में उनकी संख्या घटकर मात्र 15 रह गई। इसके विपरीत पूर्व काल में रचित सामाजिक उपन्यासों की संख्या 180 थी जो इस युग में बढ़कर लगभग दुगुनी हो गई।[14] राजस्थान के रचनाकारों में भी समाज-चेतना तीव्र होती हुई स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहां के संदर्भ में यह बात विशेष महत्त्व की है कि प्रान्त में रहस्य-रोमांसवादी लेखन लगभग नहीं ही हुआ।

1922 ई० में पं० शेरसिंह काश्यप लिखित 'सत्याग्रह की मूर्ति गंगोत्तरी' शीर्षक उपन्यास राष्ट्रीय पुस्तकमाला, अजमेर के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में गंगोत्तरी नामक एक युवती द्वारा एक अत्याचारी और दुराचारी राजा से अपने सतीत्व की रक्षा का वर्णन किया गया। 1924 में खाचरियावास (जयपुर राज्य) के जागीरदार ठाकुर कल्याणसिंह शेखावत बी० ए० का 'एक उद्देश्यपूर्ण सामाजिक उपन्यास' 'सत्यानन्द' हिन्दी पुस्तक भवन कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में यह बताया गया कि सद्गुणों को धारण कर एक ही स्थिति का मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है। 1927 ई० में चांद कार्यालय, इलाहाबाद से श्रीमती स्फूरणा देवी कृत 'सत्य घटनाओं के आधार पर लिखित क्रांतिकारी पुस्तक 'अबलाओं का इन्साफ' प्रकाशित हुई। फरवरी-मार्च 1968 में प्रकाशित 'वातायन' के बहुचर्चित विशेषांक 'राजस्थान : कथा यात्रा के बीस वर्ष' में इसे राजस्थान का पहला उपन्यास कहा गया है।[15] स्पष्टतः यह कथन भ्रामक है। अब यह तथ्य सर्वविदित है कि 'स्फूरणा देवी' बीकानेर के श्री रामगोपाल मोहता का छद्म नाम था। उपन्यास की रचना विधवा विवाह की समस्या पर सुधारवादी दृष्टिकोण से की गई थी। इसी वर्ष राजस्थान के एक अन्य लेखक की प्रथम कृति भी प्रकाशित हुई। साहित्य मन्दिर प्रयाग से प्रकाशित 'मोटी चुटकी', जिसे उसके मुखपृष्ठ पर 'सामाजिक क्रांति के भावों से ओत-प्रोत एक सरस मौलिक उपन्यास' कहा गया, के रचनाकार का नाम था—'त्रिमूर्ति'। यह त्रिमूर्ति थी—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री वर्मा और शम्भूदयाल सक्सेना। बीकानेर निवासी श्री शम्भूदयाल सक्सेना कालांतर में एक समर्थ उपन्यासकार के रूप में मान्य हुए। इस उपन्यास में आधुनिक शिक्षा प्राप्त समाज के जीवन का चित्र अंकित किया गया है। कई लेखकों के सम्मिलित प्रयास के रूप में उपन्यास लेखन का हिंदी में यह पहला प्रयास है।[16]

1928 में प्रो० रामकृष्ण शुक्ल द्वारा लिखित 'मुगल दरबार रहस्य उपनाम अमृत और विष' उपन्यास चांद कार्यालय इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। 'चांद' पत्रिका में प्रकाशित विज्ञापन के अनुसार, 'यह ऐतिहासिक उपन्यास मुगल दरबार रहस्य के आधार पर लिखा गया है। यदि नूरजहां के शासन काल के दाव-पेंच देखना हो, यदि देखना हो कि हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों के शासन काल में कैसे-कैसे भीषण षड्यन्त्र रचे जाते थे, यदि मुसलमान बादशाहों की काम-पिपासा, उनकी प्रेम-लीला और विलासिता का नग्न चित्र देखना हो, तो इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास को अवश्य पढ़िये।' चांद कार्यालय से ही 1929 में ठाकुर कल्याणसिंह शेखावत का उपन्यास 'शुक्ल और सोफिया अर्थात् पूर्व और पश्चिम' प्रकाशित हुआ।

1930 की 'सरस्वती' पत्रिका में प्रो० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख का उपन्यास 'छुई मुई' अंशतः प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष इलाहाबाद से श्री शम्भूदयाल सक्सेना का उपन्यास 'बहूरानी' भी प्रकाशित हुआ। सक्सेना जी के उपन्यासों में मेहता लज्जाराम की परम्परा का विकसित रूप देखने को मिलता है।

1935 में सरस्वती प्रेस बनारस से श्री इन्द्र बसावड़ा का उपन्यास 'घर की राह' प्रकाशित हुआ। इस सामाजिक समस्या प्रधान उपन्यास में तत्कालीन समाज में हरिजनों की दुरवस्था का चित्रण किया गया है। एक हरिजन बालक-बालिका की कथा इसमें अंकित की गई है। लेखक ने ढूडा (मुन्नू) नामक हरिजन बालक को आदर्श बालक सिद्ध करते हुए यह भी बताया है कि उच्च वर्गों के अत्याचार और शोषण अछूतों को ईसाई धर्म की ओर धकेल रहे थे। मुन्नू सारे अत्याचारों के बावजूद ईसाई नहीं बनता है। इसी वर्ष के० सी० चटर्जी 'प्रेमी' का 196 पृष्ठीय उपन्यास 'हिन्दू विधवा या सती गौरव' अजमेर से प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों का अंकन है। 1935 में ही राजस्थान साहित्य मण्डल, अजमेर ने राजकुमार मानसिंह लिखित 'लन्दन में भारतीय विद्यार्थी' शीर्षक 250 पृष्ठीय सोद्देश्य उपन्यास प्रकाशित किया। 'प्राक्कथन' के अनुसार, "इस पुस्तक के लिखने का मुख्य उद्देश्य यह है कि हिन्दुस्तान से इंगलैण्ड जाने वाले विद्यार्थी और उनके अभिभावक वहां की स्थिति को समझें, परखें और उससे जीवन निर्माण में सहायता ले सकें।"[17]

श्री जनार्दनराय नागर ने अपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण ग्रन्थ 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' में कुछ और उपन्यासों की चर्चा की है। अजमेर के प्रो० विष्णु अम्बालाल जोशी का सामाजिक उपन्यास 'रामी'(अप्र०), स्व० सुन्दर लाल गर्ग का 'अभागिनी', अलवर के श्री हरिनारायण किंकर का 1929 में रचित 'अन्त:पुर' (अप्र०), उदयपुर के पं० उमाशंकर साहित्यरत्न का 'लावण्य भवन' (अप्र०), घनश्यामप्रसाद शलभ का 'फूलवाली' (अप्र०), स्वयं जनार्दनराय

नागर के 'अनेक उपन्यास' (?) श्री घनलाल यादव का 'गिरिजा' (1939), पं० दयाशंकर पाठक उर्फ राममूर्ति का 'दुखिया' (प्र०), रामकृष्ण शिलीमुख का 'ठोकर' (अप्र०), और श्री चिरंजीवलाल ओझा भ्रमर के उपन्यास उनमें प्रमुख हैं।[18] श्रीमती रेखा शर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध में जयपुर के श्री उमेश चतुर्वेदी के 'हिन्दूपति' व 'कालेज गर्ल' तथा इनकी पत्नी श्रीमती शैलकुमारी कृत दुर्गादास के चरित्र पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास 'वीर सेनानी' की भी चर्चा की है। आपने जयनारायण व्यास के उपन्यास 'जीवन समस्या' और हरिभाऊ उपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास 'प्रियदर्शी अशोक' का भी उल्लेख किया है।[19]

स्वाधीनता पूर्व के ही कुछ अन्य उपन्यास 'बुद्धिधन' (समर्थमल सिंघी), 'एक विधवा की आत्मकथा', 'कुसुमित कुसुम', 'चम्पकमाला', 'लीलावती' (बी० पी० सिंघी) 'विजय सेठ-विजया सेठानी', 'ब्रह्मचर्य की महत्ता', (पण्डित काशीनाथ जैन) सिरोही महाविद्यालय के डॉ० सोहनलाल पटनी के निजी संग्रह में हैं।

श्री गोपाल आचार्य के दो उपन्यास 'मंजू' तथा 'छायापुरुष' क्रमश: 1942 व 1944 में प्रकाशित हुए। श्री रांगेय राघव के दो उपन्यास 'घरौंदा' और 'विषाद मठ' 1946 में प्रकाशित हुए। कालान्तर में ये दोनों ही उपन्यासकार अत्यन्त सक्षम प्रमाणित हुए। ये उनकी प्रारम्भिक रचनाएं हैं, एक सम्भावना का आभास देती हुई किन्तु प्रारम्भ की समस्त सीमाओं से युक्त।

संदर्भ-संकेत :

1. जनार्दन राय नागर आदि (सम्पादक) : राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, पृ० 12
2. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास कोश, भाग 1, पृ० 37
3 वही, पृ० 34
4. रेखा शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में राजस्थान का योग अप्र० शोध प्रबन्ध उदयपुर वि० वि०, पृ० 379
5. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास कोश 1, पृ० 218
6 वही, पृ० 321
7. वही, पृ० 321
8. डॉ० बदरी दास : हिन्दी उपन्यास पृष्ठभूमि और परम्परा, पृ० 660
9. डॉ० नवलकिशोर व रामचरण महेन्द्र : राजस्थान में हिन्दी कथा व नाटक साहित्य के सौ वर्ष, पृ० 3 व 4
10 रेखा शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में राजस्थान का योग, पृ० 381
11. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास कोश भाग 1, पृ० 147
12. डॉ० बदरी दास : हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा, पृ० 354
13. वही, पृ० 215
14. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास कोश भाग 2, पृ० 10

15. हरीश भादानी (प्रधान सम्पादक) : वातायन फरवरी-मार्च 1968, राजस्थान में उपन्यास यात्रा के बीस वर्ष, लेखक प्रेम सक्सेना, पृ० 161
16. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास कोश भाग 2, पृ० 89
17. राजकुमार मानसिंह : लन्दन मे भारतीय विद्यार्थी, प्राक्कथन
18. जनार्दन राय नागर आदि : राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार
19. रेखा शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में राजस्थान का योग, पृ० 382

राजस्थान का हिन्दी उपन्यास : विगत 25 वर्ष

उपन्यास आज की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा होने के साथ-साथ सर्वाधिक सार्थक विधा भी है। एक ओर जहां विस्तृत कैनवस के कारण यह विधा जीवन को उसकी समग्रता में अंकित करने की सुविधा प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर अपने मिज़ाज में गद्यात्मक होने के कारण सम्प्रेषण की कठिनाइयों से भी काफी हद तक दूर हो जाती है। सम्प्रेषणीयता इस विधा की बहुत बड़ी सामर्थ्य है, जो मेरी दृष्टि में इसे अन्य विधाओं पर तरजीह दे देती है। यहां विभिन्न विधाओं की तुलना करने का कोई अवसर नहीं है, पर यह जिक्र करना इसलिए आवश्यक लगा कि इस तरजीह के बावजूद अनेक कारणों से और अनेक स्तरों पर उपन्यास उपेक्षित ही रहा है। इस उपेक्षा पर तो मैं इस आलेख के अन्त में किंचित विस्तार से अपनी बात कहना चाहूंगा। यहां मैं यह उल्लेख अवश्य करना चाहता हूं कि पूरे भारतीय लेखन में ही उपन्यास को एक अजीब-से द्वन्द्वात्मक व्यवहार का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ तो हर कथाकार अपने लेखन को प्रतिष्ठित करने के लिए उपन्यास अवश्य ही लिखना चाहता है और दूसरी तरफ आलोचक सर्वाधिक महत्व कविता को देता है। फिर, अपनी समस्त सार्थकता और लोकप्रियता के बावजूद उपन्यास कहीं-न-कहीं लड़खड़ा भी रहा है। पश्चिम में बहुत पहले की गई उपन्यास की मृत्यु की घोषणा को छोड़ भी दें तो आज एक तो हमारा प्रकाशक ट्रेड मार्को वाले छद्म लेखन को प्रोत्साहित कर सही लेखन को विस्थापित करने में लगा है, दूसरे कहीं-न-कहीं रचनाकार के मन में भी अपने कर्म के प्रति संदेह उठने लगा है, कि इतनी बड़ी रचना पढ़ने का वक्त शायद पाठक के पास न हो, यानि लिख कर भी क्या होगा—इससे 'सन्नाटा साहित्य में' वाला माहौल बन रहा है। विनोद भारद्वाज जब यह कहते हैं कि 'प्रामाणिक अनुभव के नाम पर एक लेखक एक ही उपन्यास दे सकता है' तो यह भी लगता है कि एक पूरा उपन्यास लिखने और जैसे सघन अनुभवों की मांग करता है उन्हें जुटाने की अपेक्षा खण्ड-खण्ड अनुभवों पर अन्य विधाओं में रचनाएं लिख देना ज्यादा सहज होता होगा या कि एक बार जुटाये अनुभवों की जुगाली कर ही नये उपन्यास के सृजन

की विवशता लेखक के आगे आती होगी। यहां यह सनातन प्रश्न भी एक बार पुनः आता है कि कोई लिखता ही क्यों है? बहरहाल, यहां तो इन प्रश्नों को उठाने का उद्देश्य प्रान्त के औपन्यासिक सृजन पर बात करने के लिए मात्र एक व्यापक आधार तैयार करना है। प्रांत के उपन्यास को लेकर अक्सर कई तरह के संदेह और अविश्वास व्यक्त किये गये हैं। कभी-कभी तो यह भी लगता है कि जैसे उसके अस्तित्व को ही नकारने का प्रयास किया जाता है। मेरी मान्यता है कि प्रांत के सृजन का बेबाक मूल्यांकन होना चाहिए—न अतिरिक्त प्रशंसा, न अतिरिक्त निन्दा, और उपेक्षा तो बिल्कुल ही नहीं। यदि सृजन में कहीं दरारें या खुरदुरापन है तो उस पर भी उंगली रखी जानी चाहिए, ताकि भावी सृजन में ये दोष न आने पायें। इस मूल्यांकन के अतिरिक्त, प्रान्त के सृजन के अवरोधक तत्वों की पड़ताल भी जरूरी है। इस संक्षिप्त आलेख में मैं इन्हीं दृष्टियों से अपनी बात कहने का प्रयत्न कर रहा हूं।

लम्बे समय तक प्रान्त का प्रथम उपन्यास स्फूर्णदेवी (छद्म नाम) कृत 'अबलाओं का इन्साफ' (1927 ई०) माना जाता रहा है, परन्तु अब अन्य अनेक उपन्यास मिल जाने से राजस्थान के हिन्दी उपन्यास का उद्गम भी लगभग समग्र हिन्दी उपन्यास के समानान्तर हो गया है। बूंदी के महता लज्जाराम शर्मा के 'स्वतन्त्र रमा व परतन्त्र लक्ष्मी' तथा 'धूर्त रसिक लाल' शीर्षक उपन्यास 1899 ई० में तथा 'हिन्दू गृहस्थ' शीर्षक उपन्यास 1903 ई० में ही प्रकाशित हो चुके थे, इसी वर्ष, अर्थात् 1903 ई० में ही बूंदी के ही रामप्रताप शर्मा का उपन्यास 'नरदेव' भी प्रकाशित हुआ। इसे भी राजस्थान का प्रथम हिन्दी उपन्यास कहा गया। लेकिन राजस्थान की औपन्यासिक परम्परा इससे भी पीछे जाती है। पण्डित अम्बिका दत्त व्यास ने 1863 ई० में 'आश्चर्य वृत्तान्त' की रचना कर ली थी। डा० गोपाल राय ने इसका प्रकाशन वर्ष 1883 ई० माना है, उल्लेखनीय है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' 1882 में प्रकाशित हुआ था। तब से 1947 तक के उपन्यासों पर पिछले लेख में चर्चा की जा चुकी है। दुर्भाग्य की बात यह है कि इन उपन्यासों पर विस्तार से कहीं कोई चर्चा नहीं हुई है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के दस वर्षों में रांगेय राघव (मुर्दों का टीला, सीधा सादा रास्ता, चीवर, हुजूर, काका, अंधेरे के जुगनू, यशोधरा जीत गई, लोई का ताना, रत्ना की बात, भारती का सपूत, उबाल, देवकी का बेटा, बोलने खण्डहर, अंधेरे की भूख, कब तक पुकारूं, लखमा की आंखें, बौने और घायल फूल), परदेसी (औरत, रात और रोटी, चट्टानें, भगवान् बुद्ध की आत्मकथा), श्रीगोपाल आचार्य (विपथगामी), सन्हैया लाल ओझा (संघर्ष और समर्पण, मनुष्य का मूल्य), शम्भूदयाल सक्सेना (मगरमच्छ, बहूरानी, सजला), बंशी लाल यादव (टूटा तारा, सरोज, पहली झिकन), शान भारिल्ल (प्यासे स्वर्ण हिरण), लक्ष्मीकांत

शर्मा (नए अंकुर), डा० प्रेम भटनागर (भ्रान्त जीवन) और यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' (संन्यासी और सुन्दरी, दीया जला दीया बुझा, मिट्टी का कलंक, नया इन्सान, पथहीन) आदि के उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें से अधिकतर उपन्यासकार कालान्तर में प्रतिष्ठित हुए और लम्बे समय तक सृजनरत रहे, या सृजनरत हैं। रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' और 'कब तक पुकारूं' राजस्थान के ही नहीं, पूरे भारतीय उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में मील के पत्थर माने गये। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' राजस्थान के बदनाम सामन्ती जीवन को अपनी रचनाओं में अंकित कर खास राजस्थान के उपन्यासकार होने का महत्त्व पा सके। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में परदेसी का भी एक खास स्थान बना।

तो बात रांगेय राघव के उपन्यासों से ही शुरू की जाये। इस आलेख के आधार वर्ष 1958 से उनके स्वर्गवास (1962) तक रांगेय राघव के प्रकाशित उपन्यास हैं—बन्दूक और बीन, पक्षी और आकाश, धूनी का धुआं, जब आयेगी काली घटा, राई और पर्वत, राह न रुकी, छोटी-सी बात, मेरी भवबाधा हरो, महायात्रा : अंधेरा रास्ता, महायात्रा : रैन और चन्दा, पापी, कल्पना, धरती मेरा घर, दायरे, आंधी की नीवें, आग की प्यास, पराया, प्रोफेसर, पतझर, आखरी आवाज़। यों, स्वर्गवास के बाद भी रांगेय राघव के अनेक 'नये' उपन्यास प्रकाशित हुए पर वे प्रकाशकों के व्यावसायिक चातुर्य के कारण ही 'नये' बने। कृतित्व की विपुलता रांगेय राघव की महानता का कारण नहीं है। उनका अधिक महत्त्व विषयगत वैविध्य, अपने विषय के प्रति गहन निष्ठा और कथा-शिल्प पर असाधारण अधिकार के कारण है। करनटों के जीवन पर उनका उपन्यास 'कब तक पुकारूं', प्रागैतिहासिक काल पर 'मुर्दों का टीला' और जीवनी-परक उपन्यासों की पूरी शृंखला उनकी अमूल्य देन है। रांगेय राघव अपनी प्रतिभा का कमाल अपने पहले ही उपन्यास 'घरौंदे' में दिखा देते हैं। भगवती के जीवन चरित का अंकन करते हुए वर्गद्वन्द्व को सामने रख वे अपनी विचारधारा का भी खुला परिचय दे देते हैं। फिर तो 'विषाद मठ' में बंगाल के काल का वर्णन करने में वे और गुनते हैं। वस्तुतः 'उत्पीड़ित ग्रामीण जन का समष्टि चित्र अंकित करने की प्रवृत्ति' रांगेय राघव के हर उपन्यास में मिलती है। बहु-प्रशंसित 'मुर्दों का टीला' में वे द्रविड़ सभ्यता के स्वर्ण युग की कथा कहने के बावजूद दासप्रथा और गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति के छिद्रों को भी उभारते चलते हैं। 'हुजूर' में एक कुत्ते को कथा-नायक बनाकर वे शिल्पगत प्रयोग तो करते ही हैं, शोषकों पर निरन्तर प्रहार भी करते रहते हैं। समीक्ष्य काल में जीवन चरितात्मक उपन्यासों की एक पूरी शृंखला देकर उन्होंने हिन्दी उपन्यास की इस अन्यथा सूखी पड़ी धारा को प्रवाहित तो किया ही, अपने कथानायकों के काल पर अभिनव एवं सर्वांगीण दृष्टियों से प्रकाश भी डाला। 'महायात्रा : अंधेरा रास्ता' तथा 'रैन और चन्दा' सभ्यता के

विकास की एक महागाथा है। भूमिका में लेखक ने कहा है—"मैंने धर्म के रूपों को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना राजनीतिक जीवन को। क्योंकि धर्म की व्याख्या मूलत: तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में है।" लेखक ने अतीत को मोह की दृष्टि से नहीं देखकर तटस्थ दृष्टि से ही देखा है और उसकी खामियां तथा अन्तर्विरोध भी उजागर किये हैं। ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह करते हुए भी उनका जोर व्यक्तियों की अपेक्षा समाज पर ही रहा है। प्रागैतिहासिक काल पर उपन्यास रांगेय राघव की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

'पराया' में रांगेय राघव ने पूंजीवादी प्रवृत्तियों का अति यथार्थवादी रूप प्रस्तुत किया है। "पूंजीवादी समाज में मनुष्य का उत्थान वास्तव में उसका चारित्रिक पतन है। वह जितना ही धन के कारण सम्मान पाता है उतनी ही उसकी आत्मा मरती जाती है। लालच की मिट्टी डालकर वह अपनी आत्मा की लाश को ढंकता जाता है ताकि वह भीतर ही सड़ती रहे, बाहर बदबू न दे।" और भी, "पूंजीवादी सभ्यता गद्दे तकियों पर लेटने वाली वेश्या के समान है।" लेखक का अन्तिम उपन्यास 'आखिरी आवाज' डूमरपुर ग्रामांचल पर आधारित है। एक बड़े कैनवस पर रचित इस उपन्यास में पंचायत राज की पृष्ठभूमि में ग्राम्य जीवन की दलबन्दी, भ्रष्टाचार और मुकदमेबाजी का वर्णन है। यहां भी भूमिका में कहा गया है—"ग्राम जीवन मैंने देखा है। मेरे सामने प्रेमचन्द के गांव नहीं रहे हैं। मैंने जीवन के यथार्थ को देखा है, इसलिए नहीं कि मेरी किसी आदर्श में आस्था नहीं है, मेरी आस्था मानव में है, उसके शाश्वत कल्याण धर्म में है राजनीतिपरक जीवन आज कितना कलुषित है, यह देखने और समझने की बात है।" फिर भी नेमिचन्द्र जैन ने इस उपन्यास को प्रेमचन्द की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना है।

विपुल सृजन के होते हुए भी, अपनी गहन मानवीय संवेदना और सुलझी हुई राजनीतिक समझ के कारण, और साथ ही कथा-शिल्प पर जबर्दस्त अधिकार के कारण रांगेय राघव सृजन के ऐसे कीर्तिमान स्थापित करते हैं जिन्हें पार करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही लगता है।

प्रान्त में भी और बाहर भी रांगेय राघव की चर्चा हुई है, हालांकि उतनी नहीं जितनी के वे अधिकारी थे, पर प्रान्त के ही एक अन्य उपन्यासकार इस मामले में इतने भी सौभाग्यशाली नहीं रहे। ये हैं स्व० परदेसी। इनके उपन्यास 'भगवान बुद्ध की आत्मकथा' को डा० देवराज उपाध्याय ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के समकक्ष माना था। 'जय महाकाल' इनका एक और महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है जिसे राजस्थान साहित्य अकादमी पुरस्कृत भी कर चुकी है। इसके अतिरिक्त 'बड़ी मछली छोटी मछली', 'सपनों की जंजीरें', 'त्याग का देवता', 'दूध के बादल' और 'सिंदूर की हथकड़ियां' उपन्यास भी इन्होंने लिखे।

परदेसी जी का रुझान ऐतिहासिक कथानकों की ओर था, इसलिए उनके सामाजिक उपन्यास औसत स्तर से ऊपर नही उठ पाये।

अब कलकत्ता में बस गये सन्हैया लाल ओझा भी राजस्थान के पुराने रचनाकारो मे से एक हैं, और अब तक सृजनरत हैं। अर्थान्तर, मकड़ी का जाला, धर्म के नाम पर, सिंधु सीमान्त, सर्वनाम, तृतीय पुरुष, मासूम चांदनी : क्षितिज के स्वर, और सम्भवामि प्रथम पर्व उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। ओझा जी का रचनाकाल जितना विस्तृत है उतना ही विस्तृत है उनका रचनाफलक। इधर उनका 'सर्वनाम' उपन्यास काफी चर्चित रहा है। सर्वनाम एक प्रतीक पात्र है और पूरा उपन्यास, वकौल विवेकी राय, "प्रतिष्ठानी अव्यवस्था का दस्तावेज है।" ओझा जी के उपन्यास प्रायः आकार मे बड़े होते हैं पर कथा को कहने की कला उनके पास है, अतः आकार की यह दीर्घता खलती नही है।

स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व से ही सृजनरत एक सशक्त उपन्यासकार है बीकानेर के श्रीगोपाल आचार्य। इनका ताजा उपन्यास 'रतिप्रिया' 1980 में प्रकाशित हुआ, कुछ उपन्यास अभी भी प्रकाशनाधीन हैं। आपके 'निर्वासित', 'न्यायतीर्थ', 'न्यायमूर्ति', 'आम्रपाली' उपन्यास अत्यन्त सफल हैं। 'आम्रपाली' ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आधारित उपन्यास है जिसमें आचार्य जी की सृजनात्मक कल्पना का योग भी कम नही है। सुपरिचित कथानक मे अनेक नई रोचक घटनाएं जोड़कर प्रस्तुत करने में आचार्य जी सफल हुए है। व्यवसाय से वकील आचार्य जी ने अपने अनुभव 'न्यायमूर्ति' व 'न्यायतीर्थ' मे संजोये हैं। 'न्यायमूर्ति' हैं बीकानेर के जज चन्द्रहास, जो रिश्वत के प्रलोभनो से बचते हुए अपनी अस्मिता बनाये रखते हैं। उनके मित्र संजय साम्यवादी हैं और वे भ्रष्टाचार का खुलकर विरोध करते हैं। क्रांति करवाते हैं। पुलिस संजय को पकड़ लेती है तो चन्द्रहास ही संजय की वकालत स्वीकार कर सच्चे न्यायमूर्ति बनते हैं। भारतीय न्यायालयों की एक अन्य सजीव झांकी 'न्यायतीर्थ' मे भी प्रस्तुत की गई है। कचहरी और न्यायालय कहने को ही न्यायतीर्थ हैं, वरना वहां बोलबाला भ्रष्टाचार का है। एक सुव्यवस्थित कथावस्तु के अभाव मे भी अदालती जिन्दगी के प्रामाणिक और बेबाक चित्रों ने इस उपन्यास को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। आचार्य जी का ताजा उपन्यास 'रतिप्रिया' एक नितान्त नाजुक विषय पर है। जहां विषय 'काम' हो, इस बात की पर्याप्त आशंका रहती है कि स्वयं रचनाकार उसमे रस लेने लग जाये और विवरण-वर्णन अश्लीलता की परिधि छूने लगे। पर आचार्य जी की वय (70 वर्ष) ने इस विषय को जिस प्रौढ़ता व संयम से निबाहने का सुयोग जुटाया है वह प्रशंसनीय है। उपन्यास की मूल चिंता आज के जीवन में काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास है। 'रतिप्रिया' विचार-प्रधान उपन्यास है। आचार्य जी के सभी उपन्यासों में संवाद तत्त्व अधिक पुष्ट होता है। उनका वकील व्यक्तित्व

उनके कथाकार पर जैसे हावी रहता है।

संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं बीकानेर के ही यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'। 1954 से अब तक निरन्तर सृजनरत 'चन्द्र' के उपन्यासों की संख्या लगभग 50 है। यदि शुद्ध व्यावसायिक कथाकारों को छोड़ दें तो हिन्दी में इतने उपन्यास लिखनेवाला दूसरा कोई उपन्यासकार शायद ही हो। और निश्चय ही मसिजीवी होने के बावजूद 'चन्द्र' उन अर्थों में व्यावसायिक लेखक नहीं है जिन अर्थों में स्व० गुलशन नन्दा या 'कर्नल रंजीत' को व्यावसायिक लेखक कहा जाता है। लेकिन चन्द्र का महत्त्व मात्र संख्या में ही सीमित कर देना उनके साथ अन्याय होगा। अन्याय तो उनके साथ हुआ ही है। प्रान्त के वरिष्ठ समीक्षक डा० नवलकिशोर ने कहा भी है, "चन्द्र को अपनी पीढ़ी के ही दूसरे लोगों की तुलना में कुछ उपेक्षित भी रहना पड़ा—मसलन चन्द्र की तुलना में राजेन्द्र अवस्थी को लोग ज्यादा जानते रहे—जबकि चन्द्र उससे बेहतर कथाकार सिद्ध हुआ।" चन्द्र का एक महत्त्व तो इस बात में है कि वह राजस्थान का चितेरा है। उसकी ज्यादातर रचनाओं में राजस्थान का जनजीवन चित्रित हुआ है। राजस्थान साहित्य अकादमी से पुरस्कृत चन्द्र के दोनों उपन्यास—'खम्मा अन्नदाता' तथा 'ढोलन कुंजकली' (तथा अन्य ऐसे ही उपन्यास यथा 'सन्यासी और सुन्दरी', 'दीया जला दीया बुझा', 'पत्थर के आंसू', 'ठकुरानी', 'जनानी ड्योढ़ी', 'राजा महाराजा', 'रानी महारानी', 'सिंहासन और हत्याएं', 'मिट्टी का कलंक', 'कथा एक नरक की' आदि भी) राजस्थान के बदनाम सामन्ती जीवन का रोमहर्षक चित्रण अपने में समेटे हैं। चन्द्र की सार्थकता इसी बात में निहित नहीं है कि उन्होंने इन उपन्यासों में रजवाड़ों-रनिवासों के जीवन का प्रामाणिक चित्रण किया है, इस बात में भी निहित है कि लगभग हर उपन्यास में उन्होंने शोषकों के विरुद्ध कोई-न-कोई आन्दोलन खड़ा करवा कर पीड़ितों के प्रति अपनी पक्षधरता जाहिर की है। 'कथा एक नरक की' में तो एक पूरी की पूरी जाति ही शोषण के विरुद्ध उठ खड़ी होती है। राजस्थान के लोगों के एक और वर्ग पर भी चन्द्र ने अपनी रचनाओं में दृष्टिपात किया है। यह वर्ग है पैसा कमाने के लिये 'दिसावर' गया हुआ प्रवासी राजस्थानी वर्ग। 'बड़ा आदमी' में यह वर्ग अपने समस्त विद्रूप के साथ मौजूद है। इस वर्ग के लिए, जिसका प्रतिनिधि है कथा नायक फतह, पैसा ही सब कुछ है। उसको पाने के लिए वह जघन्यतम कृत्य करने से भी नहीं हिचकिचाता है। यों भी उसको सर्वत्र 'सौदा' ही नजर आता है। फतह का एक वाक्य—"विवाह जीवन-भर का एक सौदा है और सौदा ऐसा होना चाहिए जिसमें हानि न हो।" 'घूंघट के आंसू', 'चूनर की पीड़ा', 'पंखहीन' आदि भी राजस्थानी जीवन के ही उपन्यास हैं। यों 'चन्द्र' ने राजस्थान के अतीत पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं ('खून का टीका', 'केशरिया पगड़ी')

और समकालीन राजनीति पर भी ('एक और मुख्यमन्त्री')। 'एक और मुख्यमंत्री' जो चन्द्र का एक महत्त्वपूर्ण एवं महत्त्वाकांक्षी उपन्यास ('देश के राजनैतिक जीवन की बीस वर्षों की गाथा है मेरा उपन्यास'—चन्द्र) है, दो स्तरों पर है—पारिवारिक या व्यक्तिगत और राजनैतिक। एक मध्यमवर्गीय परिवार का बेरोजगार युवक अरविन्द अपनी भाभी के व्यंग्य-वाणों से आहत हो घर से निकल जाता है, हिन्दू महासभा के दफ्तर में काम करने लगता है, अपनी वक्तृत्व शैली के कारण लोकप्रिय होता है, चुनाव लड़ता है और अन्ततः सारे जोड़-तोड़ बिठाकर मुख्यमंत्री बन जाता है। यह एक शरणार्थिन्, बलात्कृता, गुलाब से विवाह करता है—प्रचार और प्रशंसा पाने के लिए। प्रेम के लिए अब उसके पास अवकाश बचा भी नहीं है। अरविन्द आज की भ्रष्ट राजनीति का पूर्ण प्रतीक है। सत्या उसे कहती है, "तुमने पृथ्वी पर ऐसा कोई कुकर्म नहीं छोड़ा जिसको न किया हो। इस युग के तुम प्रतीक हो।" तथा "तुम्हारी यह गंदी राजनीति ! यदि राजनीति इसी गंदगी, पाप, झूठ का नाम है, तो यह सारे देश को अंधेरे में झोंक देगी।" उपन्यास में नेहरू, शास्त्री, इन्दिरा गांधी आदि के यथार्थपरक संकेत हैं, चीन-पाक आक्रमण के संदर्भ हैं, पर अरविन्द किस राज्य का मुख्यमन्त्री है, यह कहीं नहीं बताया गया है। वैसे, अकाल के विस्तृत संकेत बात को अस्पष्ट भी नहीं रहने देते। चन्द्र के सभी उपन्यासों में एक बात अवश्य रहती है, शोषितों के प्रति उनकी पक्षधरता। 'आखिरी साल तक' में यह पक्षधरता वैचारिकता के रूप में ज्यादा ही अभिधात्मक हो उठी है, पर 'हजार घोड़ों का सवार' में पक्षधरता पुनः कलात्मकता के साथ है। 'रुधिराल की औरत' और 'प्रजाराम' के प्रकाशन के साथ चन्द्र की सृजनात्मकता ने एक और मोड़ लिया है। अधिक मात्रा में लिखना चन्द्र की विवशता रही है। इसकी स्वाभाविक परिणति कहीं दुहराव तो कहीं सतहीपन के रूप में उनके उपन्यासों में हुई है। यों भी, बात को अभिधात्मक ढंग से कहना उनका स्वभाव है।

संख्या की दृष्टि से 50 उपन्यास तो बहुत-बहुत ज्यादा होते हैं, 9-10 उपन्यास भी कम नहीं होते। प्रान्त के अनेक उपन्यासकारों ने इतने उपन्यास लिखे हैं। गुमेर सिंह दईया उनमें से एक हैं। 1962 से अब तक उनके प्रकाशित उपन्यास हैं—'चम्बल के किनारे', 'आग उठा इन्सान', 'भावनाओं के खण्डहर', 'स्वप्न की पीड़ा', 'बर्फ की चट्टान', 'घेरे में कैद', 'आंधी के अवशेष', 'काल पात्र', 'नग्न और सीपियाँ', 'शेष परिधि', 'काली सुरंग' तथा 'जल भंवर'। मूलतः मध्यमवर्गीय जीवन के चितेरे दईया की इस बात के लिए तो प्रशंसा की ही जानी चाहिए कि घोर साहित्यिक उपेक्षा के शिकार होने के बावजूद उन्होंने अपनी लेखनी को कुण्ठित नहीं होने दिया है। 'आग उठा इन्सान' में आपने बैंक कर्मचारियों के जीवन की विडम्बनाओं को केन्द्र में रखा है, तो 'चंबल के किनारे'

में आज के युग की अनेक विसंगतियों को उभारा है। 'घेरे में कैद' में आपने भारतीय नारी के जीवन की विडम्बनाओं को अभिव्यक्त किया है, तो 'वर्फ की चट्टान' में नारी की मनोवैज्ञानिक स्तर पर पड़ताल का प्रयास है। दईया के लेखन की एक बड़ी कमजोरी शब्दों का अपव्यय है। वे जब वर्णन करने लगते हैं तो उसे बहुत लम्बा खींच लेते हैं। कुशल सम्पादन से उनके उपन्यासों में कसाव आ सकता है।

बीकानेर के ही करणीदान बारहठ भी 'प्रेमलता', 'कलाई का धागा', 'घाव के धब्बे', 'कुहरा और किरणें' प्रकाशित करवाने के बावजूद उपन्यास जगत् में अपरिचित-से ही हैं। आजादी के बाद गाँवों में जो टूटन और बिखराव आया है उसका सटीक चित्रण 'प्रेमलता' में हुआ है। 'कुहरा और किरणें' का कथानक भी गांव से ही उठाया गया है पर यहां गांव केन्द्र में नहीं है। यहां अनेक बातों को समेटने के प्रयास में कथा बिखर-सी गई है।

बीकानेर के ही ज्ञान भारिल्ल पहले कवि और बाद में एक शैक्षिक पत्रिका के सम्पादक के रूप में अधिक प्रशंसित व चर्चित हुए, हालांकि उनके उपन्यास भी संख्या में कम नहीं हैं—'प्यासे स्वर्ण हिरण', 'निंदिया पुकारे', 'तरंगवती', 'भटकते-भटकते', 'शाह और शिल्पी', 'कीर्ति पुरुष कुम्भा', 'कहा थे तुम', 'साक्षी है क्षिप्रा', 'अमृतपुत्र'। इनमें से 'अमृतपुत्र', 'साक्षी है क्षिप्रा', 'कीर्ति पुरुष कुम्भा', 'शाह और शिल्पी' प्रथम श्रेणी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। लेखक ने ऐतिहासिक तथ्यों की पर्याप्त पड़ताल के बाद पूरे मनोयोग से इनकी रचना की है। 'अमृत पुत्र' में आबू के दिलवाड़ा मन्दिरों के निर्माता वस्तुपाल तेजपाल के जीवन की पूरी कथा बहुत ही कुशलतापूर्वक कही गई है। 'कीर्ति पुरुष कुम्भा' जीवनी परक उपन्यास है। सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में युगीन वातावरण को लेखक बहुत सफलतापूर्वक उभार पाया है। उनके सभी उपन्यासों में उनके कवि व्यक्तित्व की झलक भी साफ दिखाई देती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में यह प्रीतिकर भी लगता है।

बीकानेर के ही डा० राजानन्द (भटनागर) के भी चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'प्यासे प्राण', 'नीली झील लाल परछाइयां', 'यहां से कहा तक', 'रूप अरूप', और 'एक बार फिर'। ये सभी उपन्यास समकालीन मध्यमवर्गीय जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गए हैं। 'प्यासे प्राण' और 'रूप अरूप' के केन्द्र में परिवार है तो 'नीली झील लाल परछाइयां' के केन्द्र में शिक्षा-जगत् तथा 'यहा से कहां तक' के केन्द्र में युग पीढ़ी। 'नीली झील लाल परछाइयां' शीर्षक को स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है—"किस तरह से नीली झील के कभी के पाक-साफ दिल की ऊपरी सतह पर आग की लपटें जल उठी है और उनमें उनकी पाप की लाल परछाइयां उभर-उभर कर ऊपर आ रही हैं यह सब जानते है।" 'रूप

अरूप' में प्रेम कथा भी है पर यह उपन्यास औसत होते-होते बच गया है। अशनि और रसा के शारीरिक सम्बन्धों का वर्णन पूरी तरह जैनेन्द्र (सुनीता) के अन्दाज में है।

बीकानेर के ही धर्मेन्द्र शर्मा के भी दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—तनाव, जय जंगल घर बादशाह। 'तनाव' आज के जीवन की कुंठा, घुटन, त्रास आदि को व्यक्त करता है। उनका दूसरा उपन्यास ऐतिहासिक है और उसकी पृष्ठभूमि बीकानेर की है। चौथा सप्तक के प्रतिष्ठित कवि नन्द किशोर आचार्य ने भी कभी एक उपन्यास लिखा था—'तथागत'। इतिहास में आचार्य जी की गहरी रुचि भी है। स्वभावतः उपन्यास में युगीन परिवेश का सफल अंकन और ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा है। बीकानेर के ही शुभू पटवा का भी एक उपन्यास 'उस दिन' काफी पहले प्रकाशित हुआ था। उपन्यास में गरीब-अमीर का द्वन्द्व और प्रेम सम्बन्धों की घिसी-पिटी कथा है। लेखक ने पूंजीवादी व्यवस्था आदि पर टिप्पणियां भी की हैं पर ये कथा का हिस्सा नहीं बन सकी हैं। बीकानेर के ही प्रेम सिनहा के तीन सामाजिक उपन्यास—अपने अपने रास्ते, एक मूर्ति टूटी हुई, मन के मीत प्रकाशित हुए हैं। 'अपने अपने रास्ते' के नायक राशन विभाग के बाबू राजेन्द्र को दफ्तर में भ्रष्टाचार और घर पर पिता की रूढ़िवादिता तथा दहेज-लोलुपता से जूझना पड़ता है। लेखक की दृष्टि पूरी तरह आदर्शवादी है। उत्तरार्द्ध में उसने साम्यवाद का सीधा उपदेश तक दे डाला है। 'एक मूर्ति टूटी हुई' प्रेम-कथा है। 'मन के मीत' में भी एक लेखक के पड़ोसी कन्या से प्रेम का किस्सा है।

पिछले दिनों तेजी से उभरे हैं राजेन्द्र मोहन भटनागर जो आजकल उदयपुर में रह रहे हैं। एक-एक वर्ष में तीन-तीन चार-चार उपन्यास इनके प्रकाशित हुए हैं। कुछ शीर्षक हैं—'दहशत', 'सूर-श्याम', 'मंचनायक', 'नया मसीहा', 'एक धनहीन युद्ध', 'महात्मा', 'देवलीना', 'अनन्त आकाश'। 'देवलीन' विमल मित्र की शैली का प्रेम उपन्यास है जिसमें रोमांच भी कम नहीं है। यह कहना आवश्यक है कि राजस्थान के कथाकारों ने इस तरह की किस्सागोई का कम ही प्रदर्शन किया है। यह अलग बात है कि यह किस्सागोई अपने आप में अन्तिम महत्त्व की वस्तु नहीं है। 'मंचनायक' की भूमिका में प्रश्न उठाया गया है—"आखिर कब तक लोकतन्त्र के नाम पर आम जनता को ठगा जाता रहेगा? क्या राजनीति सत्ता की दलाली हो चली है? खरीद-फरोख्त सरेआम हो रही है और सब मौन हैं।" लेकिन उपन्यास का कथ्य इन पंक्तियों की पुष्टि नहीं करता। कथानायक-मंचनायक मानप्रकाश हेमन्त है जो सत्तारूढ़ दल का अदना-सा सदस्य है। उसकी जोड़-तोड़ और शिखर पर पहुंचने की जद्दोजहद की कथा पूरे उपन्यास में है। प्रेम सन्दर्भ भी है। उपन्यास पर स्पष्ट ही कमलेश्वर की 'काली आंधी' की छाया है। इसे आपातकाल से भी जोड़ने का प्रयास किया गया है हालांकि आपात् काल

के साथ इसकी कोई खास सम्पृक्ति नही है। चन्द्र का 'एक और मुख्यमन्त्री' और 'मंचनायक' काफी हद तक मिलती-जुलती पृष्ठभूमि पर हैं। लेकिन 'मंचनायक' की कथा और ब्यौरे ज्यादा हवाई प्रतीत होते हैं। लेखक की परिकल्पना तो ठीक है पर चूक उसे कथा का जामा पहनाने में हुई है। 'एक अन्तहीन युद्ध' महाराणा प्रताप के स्वातंत्र्य-संग्राम को केन्द्र बना कर, पर्याप्त ऐतिहासिक आधार जुटा कर लिखा गया है। लेखक ने कथा के बीच सीधा हस्तक्षेप करते हुए एक मौलिक स्थापना की है—"प्रताप के जिस व्यवहार की सर्वथा चर्चा और सराहना हुई है, उसका सृजक स्वयं प्रताप न होकर उसकी पत्नी अजवादे परमार ही रही है।" उपन्यास में चरित्रों की भीड़ लगा दी गई है पर पूरे रंग केवल प्रताप के चरित्र में ही भरे जा सके हैं। उपन्यास मे कई जगह शोध-ग्रंथों की शैली में फुट-नोट भी दिये गए है, ऐतिहासिक स्रोत उजागर करने के लिए। सूर पंचशती के अवसर पर भटनागर ने 'सूर श्याम' की रचना की जिसमें 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' की शैली मे दैवी चमत्कार के रूप में सूर के समय की एक पांडुलिपि प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। लेखक ने सूर मे भक्त और प्रेमी के दो अलग-अलग व्यक्तित्व आरोपित किए हैं पर समुचित सन्तुलन के अभाव मे भक्त का व्यक्तित्व उभर नही पाया है और सूर साधक कम कामी ज्यादा नजर आते हैं। वल्लभाचार्य के तिरोहान के बाद सूर के तिरोहान के समय पुनः वल्लभाचार्य को ले आने जैसी गलती कथा विन्यास में है तो भाषा का यह आलम कि सारंगी 'आगोश', बाबा 'फैशन' और स्वयं लेखक कथा के बीच किलोमीटर का प्रयोग करते है। इनका उपन्यास 'दहशत' डाकू समस्या पर है। कुल मिलाकर, भटनागर ने विषयों की विविधता का परिचय तो दिया है और कथा कहने का सलीका भी उनके पास है, पर अधिक लेखन के परिणामस्वरूप गहराई कही भी नही आ पाई है। शायद कई सारे औसत उपन्यास देने के बाद वे एकाध अविस्मरणीय उपन्यास भी दें। कम-से-कम मुझे तो उनसे उम्मीद है।

भटनागर अम्बाला से राजस्थान आये हैं तो व्रजभूषण राजस्थान से बम्बई गये है। व्रजभूषण भी लेखकों की उस श्रेणी के सदस्य हैं जो प्रचार-प्रसार से दूर रह कर निरन्तर सृजन मे विश्वास रखते है। उनके उपन्यास है—'हंसा तो मोती चुगे', 'एक और एक ग्यारह', 'ऐसा इन्सान', 'मंगलोदय', 'फ़कीर लकीर के', 'सोना माटी', 'रख पत रखा पत', 'भूल का शूल', 'गोमती मंगल'। व्रज-भूषण के लेखन की विशेषता यह है कि वे साहित्यिक फैशनों के बहाव से अप्रभावित रहकर लिखते हैं। उनके लेखन में सुधारवादी दृष्टिकोण प्रमुख है। 'हंसा तो मोती चुगे' उपन्यास भ्रष्टाचार की अतिव्याप्तियों को उजागर करता हुआ उससे लड़ने-वालों की दुर्दशा का वर्णन करता है, पर उसका अन्त आदर्श-वादी ही होता है। आदर्शवादी बाप का आदर्शवादी बेटा रमेश अस्पताल के स्टोर

चौपर, सेठ के नौकर, स्कूल मास्टर, मसाला फैक्ट्री के कर्मचारी—इन सभी रूपों में भ्रष्टाचार का सामना कर अन्ततः विक्षिप्त हो जाता है। आदर्शवाद यहां सासद भार्गव की सहायता के रूप में आया है जो एकदम आरोपित हो गया है।

निरन्तर लिखते चले जाने वाले एक और उपन्यासकार हैं—उमेश शास्त्री। 'शारदा', 'संगीता', 'लाल आकाश पीले फूल', 'टूटते किनारे', 'खुले अधखुले पृष्ठ', 'रेत की नदी', 'रस कपूर', 'एक दीवार और', 'यात्री उस पार के' तथा 'शक' इनके उपन्यास हैं। लेखक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना अर्द्ध-ऐतिहासिक उपन्यास 'रस कपूर' है जिसके प्रत्येक शब्द मे उस युग की पुरुष भोग्या नारी की वेदना मुखरित है। कथा का आधार जयपुर के राजा सवाई जयसिंह और एक नर्तकी रस कपूर के प्रेम सम्बन्ध हैं। राजमहलों के कुचक्र किस तरह रस कपूर को रेशमी ऊंचाइयों से खुरदरी जमीन पर ला पटकते हैं—यह कथा पर्याप्त कौशल से कही गई है। तत्सम का उर्दू मिश्रित शब्दावली में प्रवाह है। 'लाल आकाश पीले फूल' कमला देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम से प्रेरित रचना है।

लक्ष्मीदत्त शर्मा के प्रकाशित उपन्यास हैं—'चटकती कलियां उभरते कांटे', 'वत्सला टूट गई', 'प्रतिमा की रेखाएं'। 'चटकती कलियां उभरते कांटे' में आत्म निर्माण की प्रेरणा दी गई है। 'वत्सला टूट गई' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा गया है हालांकि कथा डा० नीहार रंजन और दो प्रेमिकाओं वत्सला और डोरोथी की है। डोरोथी से विवाह कर भी वह वत्सला को भूल नहीं पाता है। लेखक ने वत्सला की पीड़ा, डोरोथी का क्षोभ और नीहार रंजन की उलझन को व्यक्त करना चाहा है, पर एक तो शब्दों के दुरुपयोग व अत्यधिक विस्तार के कारण बात बिखर कर रह गई है और दूसरे भाषा लगभग दो दशक पहले की-सी है, अतः इच्छित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। कुछ-कुछ ऐसी ही दुर्घटना होती है प्रफुल्ल प्रभाकर के तीनों उपन्यासों के साथ भी—'सीमा और विजय', 'बिखरे सैवाल', 'गलत सन्दर्भ'। 'सीमा और विजय' लेखक का प्रथम उपन्यास है और उसमें शिल्प का कच्चापन साफ है। सीमा आती है, दरवाजा खुलता है, स्टेशन का दृश्य जैसी नाटकोचित शब्दावली से पूरा उपन्यास भरा पड़ा है। कथा में भी दरारें ही दरारें हैं। पीड़ा की बात यह है कि इन सीमाओं से लेखक अपने तीसरे उपन्यास में भी मुक्त नहीं हो पाया है। 'गलत सन्दर्भ' प्रसंगवश, अकादमी से प्रकाशित प्रथम हिन्दी उपन्यास है, पर यहां भी प्रफुल्ल 'सीमा और विजय' की सारी सीमाओं में ही कैद नजर आते हैं। प्रफुल्ल का ताजा उपन्यास 'विषजल' है। अजमेर के ही विनोद सोमानी 'हंस' के भी तीन उपन्यास हैं—'एक था मन्त्री', 'शतरंज का नायक', 'एक थी वन्दना'। इन्हें भी अभी लम्बी यात्रा तै करनी है। अजमेर के ही स्वामी शिवसधनदास के दो उपन्यास 'बदलती सूरतें' और 'ऊंची हवेली नीचा नगर' प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही उपन्यास दीर्घकाय हैं और दोनों में

सामाजिक स्तर पर स्वाधीनता के बाद के भारत को चित्रित किया गया है। लेखक के पास कहने को बहुत कुछ है। घनश्याम शलभ के भी तीन उपन्यास आये हैं—अंधेरी चांदनी उजली छांव, फौलाद की मोमबती, अग्नि कमल की पंखुड़ियां। शलभ जी की मूल संवेदना कवि की है जो उनके उपन्यासकार के भी सर पर ही चढ़ कर बोलती है। अपने नवीनतम उपन्यास 'अंधी गांधारी के सपने' में शलभ जी ने समकालीन जीवन की कुरूपता को पूरी निर्ममता से चित्रित किया है। अजमेर के ही डा० रामगोपाल गोयल के भी तीन उपन्यास आ चुके हैं—अग्नि पर्व, अंधेरे के विरुद्ध, धरती रही पुकार। 'अग्नि पर्व' जालोर की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना पर आधारित है और इसमे युद्धों का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। अधिकांश पात्र व घटनाएं इतिहास सम्मत हैं, जहां कल्पना की गई है वहां भी इतिहास से संगति बनाये रखने का पूरा प्रयास है। युद्ध और प्रणय का कुशल संतुलन उपन्यास की एक और उपलब्धि है। शेष दोनों उपन्यासों का चरित्र आदर्शवादी-सुधारवादी है, अत: उनके बारे में अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। हां, भाषा की स्थानीय रंगत कहीं-कहीं मजा दे जाती है।

'रेखा' और 'अंकुर' के बाद राजेन्द्र सक्सेना का भी एक उपन्यास 'वसन्त की प्रतीक्षा' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। इसमे 'बम्बई' के महानगरीय परिवेश मे दाम्पत्य जीवन के सन्दर्भ में मूल्यों की टूटन को बड़ी सधी कलम से अंकित किया गया है। छोटे कलेवर के कारण कथा में प्रशंसनीय कसाव है। सक्सेना जी का ताजा उपन्यास 'सुबह का सूर्यास्त' है।

शिक्षा विभाग, राजस्थान की बहुप्रशसित शिक्षक दिवस प्रकाशन योजना के तहत अब तक दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—भगवती प्रसाद व्यास का 'स्वर्ग भ्रष्ट' और मुकारब खान आजाद का 'दो गांव'। 'स्वर्गभ्रष्ट' का घटनास्थल स्वाधीनतापूर्व का उदयपुर है। कथा स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ बाद तक चलती है। उपन्यास के सम्पादक रामदरश मिश्र ने इस उपन्यास के लिए जो कुछ कहा है, उसे मैं विस्तृत होते हुए भी यहां इसलिए उद्धृत कर रहा हूं कि कमोबेश यह बात राजस्थान के अधिकांश उपन्यासों पर लागू होती है—"महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाले इस उपन्यास मे परिस्थितियों का परिस्थितियों से और पात्रो का पात्रों से तनाव बहुत कम लक्षित होता है। घटनाएं सहज भाव से घटती जाती हैं, और उनका वर्णन होता चलता है। भले स्वभाव के पात्र प्राय: एक-दूसरे का साथ देते हुए चलते रहते हैं। इसलिये उपन्यास अपने प्रभाव मे कही भी बहुत गहरे नही उतरता···लेखक के सामने समस्याएं तो है (जो महत्त्वपूर्ण हैं) किंतु उन्हे अन्तर्विरोधों और तनावों के माध्यम से परस्पर रखने की कला का उसमे अभाव है। उपन्यास के प्रभाव की गहराई को कम करने वाली एक और बात है—वह है उबाऊ रूप से सामान्य से सामान्य चीज का विवरण प्रस्तुत करना। लेखक हर

कोपर, सेठ के नौकर, स्कूल मास्टर, मसाला फैक्ट्री के कर्मचारी—इन सभी रूपों मे भ्रष्टाचार का सामना कर अन्ततः विक्षिप्त हो जाता है। आदर्शवाद यहां सासद भार्गव की सहायता के रूप में आया है जो एकदम आरोपित हो गया है।

निरन्तर लिखते चले जाने वाले एक और उपन्यासकार हैं—उमेश शास्त्री। 'शारदा', 'संगीता', 'लाल आकाश पीले फूल', 'टूटते किनारे', 'खुले अधखुले पृष्ठ', 'रेत की नदी', 'रस कपूर', 'एक दीवार और', 'यात्री उस पार के' तथा 'शक' इनके उपन्यास हैं। लेखक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना अर्द्ध-ऐतिहासिक उपन्यास 'रस कपूर' है जिसके प्रत्येक शब्द में उस युग की पुरुष भोग्या नारी की वेदना मुखरित है। कथा का आधार जयपुर के राजा सवाई जयसिंह और एक नर्तकी रस कपूर के प्रेम सम्बन्ध हैं। राजमहलों के कुचक्र किस तरह रस कपूर को रेशमी ऊंचाइयों से खुरदरी जमीन पर ला पटकते हैं— यह कथा पर्याप्त कौशल से कही गई है। तत्सम का उर्दू मिश्रित शब्दावली में प्रवाह है। 'लाल आकाश पीले फूल' बंगला देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम से प्रेरित रचना है।

लक्ष्मीकांत शर्मा के प्रकाशित उपन्यास हैं—'चटकती कलियां उभरते कांटे', 'वत्सला टूट गई', 'प्रतिभा की रेखाएं'। 'चटकती कलियां उभरते कांटे' में आत्म निर्माण की प्रेरणा दी गई है। 'वत्सला टूट गई' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा गया है हालांकि कथा डा० नीहार रंजन और दो प्रेमिकाओं वत्सला और डोरोथी की है। डोरोथी से विवाह कर भी वह वत्सला को भूल नहीं पाता है। लेखक ने वत्सला की पीड़ा, डोरोथी का क्षोभ और नीहार रंजन की उलझन को व्यक्त करना चाहा है, पर एक तो शब्दों के दुरुपयोग व अत्यधिक विस्तार के कारण बात बिखर कर रह गई है और दूसरे भाषा लगभग दो दशक पहले की-सी है, अतः इच्छित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। कुछ-कुछ ऐसी ही दुर्घटना होती है प्रफुल्ल प्रभाकर के तीनों उपन्यासों के साथ भी—'सीमा और विजय', 'बिखरे शैवाल', 'गलत सन्दर्भ'। 'सीमा और विजय' लेखक का प्रथम उपन्यास है और उसमे शिल्प का कच्चापन साफ है। सीमा आती है, दरवाजा खुलता है, स्टेशन का दृश्य जैसी नाटकोचित शब्दावली से पूरा उपन्यास भरा पड़ा है। कथा मे भी दरारें ही दरारें हैं। पीड़ा की बात यह है कि इन सीमाओं से लेखक अपने तीसरे उपन्यास मे भी मुक्त नही हो पाया है। 'गलत सन्दर्भ' प्रसंगवश, अकादमी से प्रकाशित प्रथम हिन्दी उपन्यास है, पर यहां भी प्रफुल्ल 'सीमा और विजय' की सारी सीमाओं में ही कैद नजर आते हैं। प्रफुल्ल का ताजा उपन्यास 'विषजल' है। अजमेर के ही विनोद सोमानी 'हंस' के भी तीन उपन्यास हैं—'एक था मन्त्री', 'शतरंज का नायक', 'एक थी वन्दना'। इन्हें भी अभी लम्बी यात्रा तै करनी है। अजमेर के ही स्वामी शिवलखनदास के दो उपन्यास 'बदलती सूरतें' और 'ऊंची हवेली नीचा नगर' प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही उपन्यास दीर्घकाय हैं और दोनों मे

सामाजिक स्तर पर स्वाधीनता के बाद के भारत को चित्रित किया गया है। लेखक के पास कहने को बहुत कुछ है। घनश्याम शलभ के भी तीन उपन्यास आये हैं—अंधेरी चांदनी उजली छांव, फौलाद की मोमबत्ती, अग्नि कमल की पंखुड़ियां। शलभ जी की मूल संवेदना कवि की है जो उनके उपन्यासकार के भी सर पर ही चढ़ कर बोलती है। अपने नवीनतम उपन्यास 'अंधी गांधारी के सपने' में शलभ जी ने समकालीन जीवन की कुरूपता को पूरी निर्ममता से चित्रित किया है। अजमेर के ही डा० रामगोपाल गोयल के भी तीन उपन्यास आ चुके हैं—अग्नि पर्व, अंधेरे के विरुद्ध, धरती रही पुकार। 'अग्नि पर्व' जालोर की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना पर आधारित है और इसमें युद्धों का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। अधिकांश पात्र व घटनाएं इतिहास सम्मत हैं, जहां कल्पना की गई है वहां भी इतिहास से संगति बनाये रखने का पूरा प्रयास है। युद्ध और प्रणय का कुशल सतुलन उपन्यास की एक और उपलब्धि है। शेष दोनों उपन्यासों का चरित्र आदर्शवादी-सुधारवादी है, अतः उनके बारे में अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। हां, भाषा की स्थानीय रंगत कहीं-कहीं मजा दे जाती है।

'रेखा' और 'अंकुर' के बाद राजेन्द्र सक्सेना का भी एक उपन्यास 'वसन्त की प्रतीक्षा' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें 'बम्बई' के महानगरीय परिवेश में दाम्पत्य जीवन के सन्दर्भ में मूल्यों की टूटन को बड़ी सधी कलम से अंकित किया गया है। छोटे कलेवर के कारण कथा में प्रशंसनीय कसाव है। सक्सेना जी का ताजा उपन्यास 'सुबह का सूर्यास्त' है।

शिक्षा विभाग, राजस्थान की बहुप्रशंसित शिक्षक दिवस प्रकाशन योजना के तहत अब तक दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—भगवती प्रसाद व्यास का 'स्वर्ग भ्रष्ट' और मुकारब खान आज़ाद का 'दो गांव'। 'स्वर्गभ्रष्ट' का घटनास्थल स्वाधीनतापूर्व का उदयपुर है। कथा स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ बाद तक चलती है। उपन्यास के सम्पादक रामदरश मिश्र ने इस उपन्यास के लिए जो कुछ कहा है, उसे मैं विस्तृत होते हुए भी यहां इसलिए उद्धृत कर रहा हूं कि कमोबेश यह बात राजस्थान के अधिकांश उपन्यासों पर लागू होती है—"महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाले इस उपन्यास में परिस्थितियों का परिस्थितियों से और पात्रों का पात्रों से तनाव बहुत कम लक्षित होता है। घटनाएं सहज भाव से घटती जाती हैं, और उनका वर्णन होता चलता है। भले स्वभाव के पात्र प्रायः एक-दूसरे का साथ देते हुए चलते रहते हैं। इसलिये उपन्यास अपने प्रभाव में कहीं भी बहुत गहरे नहीं उतरता···लेखक के सामने समस्याएं तो हैं (जो महत्त्वपूर्ण हैं) किंतु उन्हें अन्तर्विरोधों और तनावों के माध्यम से परस्पर रचने की कला का उसमें अभाव है। उपन्यास के प्रभाव की गहराई को कम करने वाली एक और बात है—वह है उबाऊ रूप से सामान्य से सामान्य चीज़ का विवरण प्रस्तुत करना। लेखक हर

जगह महत्त्वहीन दृश्यों, क्रियाओ और मानसिक स्थितियों का लम्बा-चौड़ा विवरण प्रस्तुत करता है।" इस योजना का दूसरा उपन्यास, मुकारब खान आजाद का 'दो गांव' अध्यापकोचित आदर्शवाद के बावजूद भारतीय ग्राम चित्रण और वहां की समस्याओं की अचूक पकड़ के कारण महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। उपन्यास का आधार दो गांव हैं—अहमदपुर और ताड़पुर, जो क्रमशः प्रतिगामी व प्रगतिशील गांवों के प्रतिनिधि हैं। अधिकतर चरित्र निम्न या मध्यमवर्गीय मुसलमान हैं। लेखक ने बड़े साहस के साथ इन धर्मप्राण लोगों के निजी जीवन में धर्मगुरुओं के अनपेक्षित स्वार्थप्रेरित हस्तक्षेप का चित्रण किया है। उपन्यास का महत्त्व इस बात मे भी निहित है कि उसने समस्याए ही नही बिखेरी है, समाधान भी सुझाये है।

वरिष्ठ आलोचक डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने अपने उपन्यास 'बदलती रेखाए' मे दस्युजीवन का चित्रण कर एक अपेक्षाकृत अछूती कथाभूमि चुनी थी। नारी के प्रति भी उनका दृष्टिकोण इस उपन्यास मे स्वस्थ रहा है। अनुत्तरित प्रेम चन्दन को डाकू बनाता है, परन्तु प्रेमिका प्रतिभा ही उसका कायाकल्प भी करती है। अभी-अभी डा० दिनेश के एक और उपन्यास 'शेषनाग के किनारे' के प्रकाशन की सूचना मिली है।

कवि के रूप मे अधिक सुपरिचित कमर मेवाड़ी ने अपने एकमात्र उपन्यास 'वह एक' मे साहित्य-क्षेत्र मे घुसपैठियो की तल्ख कथा कही है। उपन्यास का 'वह' एक महत्त्वाकाक्षी रचनाकार है जो येन-केन प्रकारेण साहित्य-जगत् मे अपना स्थान बनाना चाहता है। पूरा उपन्यास उसकी इसी जोड़-तोड़ की कथा है। क़मर मेवाड़ी के पास भाषा का आधुनिक मुहावरा है और शब्दो के प्रयोग मे वे पूरा सयम भी बरतते हैं। उनसे अधिक उपन्यासो की उम्मीद बनी हुई है। कमर मेवाड़ी की ही तरह नया कथ्य उठाया है एक नये रचनाकार धनराज चौधरी ने। उनके उपन्यास 'प्रवाह' की कथा का एक भाग गढ़ी मे आई बाढ़ को समर्पित है। गाव के सामान्य लोग अपनी पूरी सामर्थ्य भर बाढ़ से जूझते है, पर विशिष्ट लोग जैसे सरपच, अफसर आदि न केवल निष्क्रिय रहते है, लाभ भी बटोरने की फिराक मे रहते है। बाढ सम्बन्धी यह अंश बहुत सशक्त है। उपन्यास का दूसरा पक्ष जयपुर के एक वैज्ञानिक अक्षय द्वारा गढो पर किये जा रहे वैज्ञानिक प्रयोगों से सम्बद्ध है। यद्यपि वर्तमान शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान की निरर्थकता व दिशा-हीनता को उजागर करने मे यह अंश पूरी तरह सक्षम है परन्तु बाढ की मूल कथा से पूरी तरह जुड़ नही पाया है। बेहतर यह रहता कि इन दो कथ्यों पर दो अलग-अलग उपन्यास होते। फिर भी, धनराज चौधरी ने अपने इस पहले ही उपन्यास मे अपरिमित संभावनाओं का परिचय दिया है। उनका दूसरा उपन्यास 'तीसरा पहर' भी महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है।

सुपरिचित कहानीकार हेतु भारद्वाज ने भी एक लघु उपन्यास लिखा है—"बनती बिगड़ती लकीरें"। उपन्यास में अर्थ नियन्त्रित समाज और परिवारों पर उसके बढते जा रहे दबावों को बखूबी चित्रित किया है। इस समाज में प्रेम करते समय भी आर्थिक स्तर बीच मे आ जाता है। विवाह तो अर्थ सम्बन्धों से तै होने और टूटते ही है। इस समाज में व्यक्ति की प्रतिभा, योग्यता, बौद्धिकता आदि सारी उपलब्धियों पर भारी पड़ती है उसकी आर्थिक समृद्धि। आनन्द सहपाठिनी प्रिया को चाहता है पर उसके पिता और अपने आर्थिक स्तर के अन्तर को तोलकर मन मसोस कर रह जाता है। आनन्द की तुलना में है प्रिया का प्रेमी विनोद, जिसके पास सिर्फ एक चीज है—पैसा। इसी के बल पर प्रिया के साथ उसका सम्बन्ध सुनिश्चित है। कथा मे एक मोड तब आता है जब परिस्थितिवश प्रिया के पिता उसकी शादी आनन्द से करने को विवश होते है। लेकिन यह चतुर आदमी यहा भी अपनी विवशता तक से लाभ उठाने से नही चूकता। इस शादी को वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने पक्ष में भुना लेता है। विनोद ने प्रिया को इसलिए छोड़ा है कि उसके पिता को प्रिया के पिता से ज्यादा पैसे वाला बेटी का बाप मिल गया है। इस प्रकार हेतु अपने इस छोटे-से उपन्यास मे क्रूर, निर्मम, अर्थ-केन्द्रित समाज के भीतर की एक झांकी दे पाने में पूरी तरह सफल हुए है। यह उपन्यास उम्मीद बंधाता है कि अगर हेतु बडे कैनवस को लेकर उपन्यास रचें तो वे हिन्दी उपन्यास जगत् मे अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकेंगे।

पुरुषोत्तम आसोपा ने अपने अकादमी पुरस्कृत उपन्यास 'पप्पू' में एक ऐसे बालक के मन में झांकने का सफल प्रयास किया है जो अपने प्रबुद्ध मां-बाप द्वारा खड़ी की गई वर्जनाओं की कांटेदार बाड से क्षत-विक्षत होता हुआ बढ़ रहा है। मां और पिता दोनो ने ही पप्पू पर अपने-अपने दाव लगा रखे है। दोनों उसे अपनी अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप विकसित होते हुए देखना चाहते है, यह भूलकर कि उसकी अपनी भी कोई आकांक्षा हो सकती है। यह सारी बात प्रारम्भ मे आम के पौधे के प्रतीक के रूप मे उठाई गई है। अन्तिम पृष्ठों मे इसी आम के पौधे से जो कहलाया गया है वह वस्तुत: पप्पू का ही आत्मकथ्य है—"मुझे मारा गया है। सबसे पहले मुझे मेरी जमीन से काटा गया। फिर परिवेश से। फिर आवश्यकताओ से। और अन्त मे मेरी जिजीविषा वृत्ति से। क्यों उन लोगों ने मुझे मेरी हालत पर ही छोड़ नही दिया? मुझ अपनी जमीन की जरूरत थी। अपने आकाश की। मेरे अपने प्रकाश की। मेरी अपनी खाद की—वायु की—पानी की; पर मुझे दी गई एक बेबुनियाद जमीन। धूमिल प्रकाश। टुकड़ा-भर आसमान और अनुर्वर खाद।"

कथ्य की मौलिकता और बाल मनोविज्ञान पर लेखक की अचूक पकड के

कारण जहां इस उपन्यास की सराहना हुई है वहीं इस बात को लेकर इसकी आलोचना भी हुई है कि पूरे उपन्यास में पप्पू का सोच पप्पू का न होकर पुरुषोत्तम आसोपा का सोच है। इस आलोचना का आधार उपन्यास के बीच में एक संकेत है जिससे लगता है कि पप्पू लगभग छठी कक्षा का छात्र है। लेकिन तब आलोचकों ने यह भुला दिया है कि उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में यह साफ कर दिया है कि यह सारा अतीत बहुत पहले का है, अब पप्पू बड़ा हो चुका है। अन्तिम पृष्ठों को पढ़ने के बाद शिकायत का कोई औचित्य रह ही नहीं जाता है। 'पप्पू' बिना किसी संदेह के प्रान्त के उत्कृष्ट उपन्यासों में से एक है।

एक बच्चे की ही कहानी है मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी', लेकिन दूसरे एंगल से कही हुई। अलग हो चुके अजय और शकुन का बेटा बण्टी। बकौल डा० परमानन्द श्रीवास्तव, "बंटी—हिन्दी कथा साहित्य में शायद लम्बे अरसे के बाद उभरने वाला, सवालों से घिरा और टूटा हुआ—ऐसा चरित्र है जो आश्चर्य नहीं, पाठक को अपने बहुत नज़दीक जान पड़े—बहुत सजीव—भीतर-बाहर के दबावों के बीच एक खंडित लय की तरह टीसता हुआ।" शकुन को लगता है कि बंटी उसका बेटा ही नहीं, हथियार भी है जिससे वह अजय को टॉर्चर कर सकती है। लेकिन बंटी न तो उन्हें जोड़ने वाला सेतु बन पाता है और न हराने वाला हथियार। डा० जोशी से विवाह के बाद तो बंटी शकुन के लिए और बड़ी समस्या बन जाता है। वह बंटी जोशी नहीं बनता, बंटी बत्रा ही रहता है। अजय जब उसे अपने घर ले जाता है तो एडजस्टमेंट की समस्या वहां भी आती है। वह मीरा को मम्मी और चीनू को भाई नहीं स्वीकार पाता है। मन्नू जी बंटी के मन की उलझनों को उभारने के साथ-साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नई दुनिया के प्रश्नों को भी सामने लाती हैं। बंटी का सोच सर्वत्र उसकी उम्र के अनुरूप ही रहा है, अतः 'आपका बंटी' उन आरोपों से मुक्त रहा जो 'पप्पू' पर लगे। बंटी के सन्दर्भ में चन्द्रकांत बांदिवडेकर ने सही ही लिखा है—"बालक के मानस का इतना सर्वांग-पूर्ण और वास्तविक चित्रण पहली बार हिन्दी साहित्य में हुआ है।" आगे उन्होंने लिखा है—"आधुनिक जीवन के कुछ सीमा तक व्यापक, गहन एवं वास्तविक सन्दर्भ में अत्यन्त संवेदनशील व्यक्तियों को एक-दूसरे से टकराते, जुड़ते, टूटते और तोड़ते हुए दिखाकर मन्नू भण्डारी ने हमारी जीवन की समझ को अधिक समंजस, अधिक व्यापक, अधिक गहन और प्रौढ़ बनाने का यशस्वी प्रयत्न किया है।" मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' तो प्रभावित ही करता है, 'महाभोज' चमत्कृत करता है। हिन्दी लेखिकाओं का रचना संसार घर-परिवार-प्रेम की सीमाओं में आबद्ध रहा है। ऐसे में बृहत्तर सन्दर्भों पर क़लम चलाकर और वह भी सफलता-पूर्वक, मन्नू जी ने एक सुखद आश्चर्य की प्रतीति कराई है। उपन्यास के प्रारम्भ में उनके शब्द हैं—"अपने व्यक्तिगत दुःख-दर्द, अन्तर्द्वन्द्व या आंतरिक 'नाटक'

को देखना बहुत महत्त्वपूर्ण, सुखद और आश्वस्तिदायक तो मुझे भी लगता है, मगर अब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अन्तर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता ? सम्भवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो। इसे मैं अपने व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करने वाले परिवेश के प्रति ऋण-शोध के रूप में ही देखती हूं।" उपन्यास का प्रारम्भ यों होता है— "लावारिस लाश को गिद्ध नोच-नोचकर खा जाते हैं। पर बिसेसर लावारिस नहीं।" बिसेसर की लाश का 'महाभोज', गिद्धों द्वारा महाभोज, ही इस उपन्यास का कथ्य है। लेखिका ने इस उपन्यास में किसी एक दल या राज्य की नहीं, पूरे देश की राजनीति की नंगी तस्वीर पेश की है। हर दल सत्ता चाहता है। सरोहा गांव मे एक उपचुनाव हो रहा है। टक्कर है भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुकुल जी और लखनसिंह के बीच। सुकुल जी के समर्थक जोरावर सिंह ने ही हरिजन युवक बिस्सू को जहर देकर मरवाया है। पर गांव मे इस हत्या की उत्तेजना खत्म करने के लिए मुख्यमन्त्री दा साहब न केवल बिस्सू के पिता के पास आकर संवेदना व्यक्त करते हैं बल्कि उससे ग्रामीण उद्योग योजना का उद्घाटन भी करवा लेते हैं। लेकिन विरोधी नेता सुकुल जी एक विराट् रैली का आयोजन कर इस हत्या का राजनैतिक लाभ लेने का प्रयत्न करते ही हैं। सत्ताधारी और विरोधी, सभी इस हत्या का निजी स्वार्थ के लिए उपयोग करना चाहते हैं। हत्यारों को सजा दिलवाने में किसी की रुचि नहीं है। ईमानदार पुलिस अधीक्षक सक्सेना बिस्सू की हत्या के सही कारणों की जांच करना चाहता है तो उसे मुअत्तल कर दिया जाता है। इसके विपरीत, मुख्यमन्त्री के इशारों पर नाचने वाले डी० आई० जी० सिनहा को पदोन्नत कर आई० जी० बना दिया जाता है। स्पष्ट ही, लेखिका ने कहानी उठाई तो गांव से है, पर उसे राजनीति से जोड़कर व्यापक अर्थ दिये गये हैं। ऐसे में जब श्रीलाल शुक्ल कहते हैं—"किसी की मौत को राजनीतिक लाभ का साधन बनाना घिनौनी बात है, पर राजनीति में घिनौनापन इतनी गहराई और व्यापकता से है कि अपने आप में यह कथा हमें उस तरह नहीं झकझोर पाती जिस तरह उसने लेखिका को झकझोरा है," तो लगता है कि हम लोग कितने अधिक संवेदनशून्य हो चुके हैं। निस्संदेह, हिन्दी उपन्यासों की दुनिया में महाभोज एक विशिष्ट कृति है। कहना अनावश्यक है कि मन्नू जी के उपन्यासकार की शुरूआत 'एक इंच मुस्कान' के अपने अंश के लेखन से हुई थी।

मन्नू भंडारी कहानीकार के रूप मे अधिक सुविख्यात रहकर उपन्यास क्षेत्र मे आईं तो राजस्थान की सुविख्यात रचनाकार दिनेश नन्दिनी डालमिया ने गद्य गीतों के क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान बनाकर उपन्यास रचना की ओर कदम उनके आत्मकथात्मक उपन्यासों की त्रयी है—मुझे माफ करना

बैसाखियां, कंदील का धुआं। तीनों उपन्यासों में एक ही (आत्म) कथा है—एक वृद्ध, उद्योगकर्मी, अत्यन्त व्यस्त, नीरस पति की कलात्मक रुचियों और यौवन की उद्दाम आकांक्षाओं से पूर्ण युवती पत्नी की व्यथा कथा। पति पहले से ही बहु-विवाहित भी है। सारी पीड़ा लेखिका की अनुभूत, निजी पीड़ा है। अपनी निखरी हुई भाषा और सधी हुई अभिव्यंजना के बल पर ही वह निजी पीड़ा को पाठक की पीड़ा बनाने में सफल होती है। दिनेश नन्दिनी जी का ताज़ा उपन्यास है 'और सूरज डूब गया'।

पहले आंशिक रूप से 'कल्पना' में प्रकाशित और चर्चित तथा बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित प्रभा सक्सेना का इकलौता उपन्यास 'टुकड़ों में बंधा इन्द्रधनुष' लेखिका को सहज ही प्रान्त के उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में स्थान दिला देता है। भाषा का समकालीन तेवर तो यहां है ही, नारी मन के दर्द को चित्रित करने में भी लेखिका को पूरी सफलता मिलती है। अपनी समस्त आधुनिकता के बावजूद नारी आखिर नारी तो है ही। सेक्स तथा प्रेमिल पुरुष का सर्वांग समर्पण उसकी प्रमुख आवश्यकता है। चरित्रा को यही तो नहीं मिला। इसीलिए वह टूटती है। हर बार वह एक पूर्ण पुरुष को पाने का इन्द्रधनुष देखती है और हर बार वह इन्द्रधनुष खण्ड-खण्ड हो जाता है।

प्रान्त की एक और लेखिका का पहला उपन्यास सवें दशक के पहले साल में प्रकाशित हुआ है—'उनका हाल'। रचना मणि ने यहां मारवाड़ एण्ड धारवाड़ कम्पनी के चेयरमेन उदय कुलकर्णी की हार्ट अटैक से मृत्यु के बाद कम्पनी के उपाध्यक्षों में चेयरमेन बनने की जोड़-तोड़ का चित्रण करते हुए व्यावसायिक संस्कृति के चरित्र को उजागर किया है। उपन्यास पर एक अमेरिकी उपन्यास 'अध्यक्ष कौन हो' का सीधा प्रभाव मुझे लगा। यह विडम्बना ही है कि व्यावसायिक संस्कृति को उजागर करने के लिए जो शैली अपनाई गई है वह भी पश्चिमी व्यावसायिक उपन्यासों (Pot Boilers) की ही है।

रचना मणि के पति 'मणि मधुकर' प्रान्त के सर्वाधिक चर्चित लेखक हैं। उनके अब तक प्रकाशित उपन्यास हैं—'सफेद मेमने', 'पत्तों की बिरादरी', 'पिंजरे में पन्ना' और 'मेरी स्त्रियां'। अपने प्रथम उपन्यास 'सफेद मेमने' में मणि ने बाड़मेर ज़िले के नेगिया गांव के कुछ लोगों—अधेड़ पोस्ट मास्टर रामऔतार, उसकी युवा पत्नी बन्ना, जस्सू, रक्खे, पशु चिकित्सक भानमल, सन्दो, सुरजा, भीमा, रणसी, जंतरी आदि की कथा कही है। उसी के शब्दों में—"अक्सर मुझे लगता है कि रेवड़ की तमाम भेड़ों को छोड़कर अचानक कुछ सफेद मेमने आगे निकल आये हैं। वे अपने मामूली दमखम के बूते पर भाग रहे हैं, लड़खड़ाकर गिर रहे हैं, लहूलुहान हो रहे हैं, फिर उठकर हांफ रहे हैं, और उसी तरह दौड़ रहे हैं। एक डर उनके भीतर है, एक डर उनके बाहर है। एक अनदेखे कसाई का अदृश्य

छुरा उनका पीछा कर रहा है। वे बचना चाहते हैं, इसलिए उस सांस तोड़ भागा-भागी के सिवा कोई चारा नहीं है।" उपन्यास के कई पात्र अपने परिवेश को क्रूर, शोषक, उत्पीड़क या पलायन को मजबूर होते हैं। लेखक ने परिवेश की जड़ता को तोड़ने के लिए सेक्स का सहारा लिया है। यह सातवें दशक की एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति थी। मणि ने इसे पहले ही उपन्यास से अपने लिये विशिष्ट स्थान बनाया और कई उम्मीदें जगाईं। लगभग आठ साल बाद आया उनका दूसरा उपन्यास—'पत्तों की बिरादरी। बाड़मेर क्षेत्र के अकाल सहायता कैम्पों में आ जुटे असहाय पत्तों की इस करुण कथा को इसलिए रचा गया कि शोषकों—सरकारी अफसरों, राजनेताओं, सेठ-साहूकारों और तथाकथित समाज-सेवकों के आचरण के प्रति सहज-स्वाभाविक आक्रोश मन में उभर सके। सहायता कैम्पों में जारी शोषण, भ्रष्टाचार, और पीड़न की कथा बदरू मिया, ज्यानकी, सुवटी, फूलकी, बांशिया और गुबो आदि के माध्यम से कही गई है। शोषक वे ही हैं जो कैम्प चलाकर 'समाज सेवा' कर रहे हैं—यानि पुमपाबाई, इग्यारसी लाल और रावता। इनका सम्बन्ध हरलो डाकू से है और इनकी पीठ पर है राजनेता-गण। ये तस्करी भी करते है, सहायता का अनाज भी बेचते है। शोषितो का नेतृत्व करता है गुबो जो पाकिस्तान से भागकर इस कैम्प में आया है। जुझारु गुबो का जन्म उस पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया में है जो श्रम के शोषण पर आधारित है और जिसे भूखे के हाथ से रोटी का टुकड़ा तक छीन लेने में कोई हिचक नही होती। गुबो इस क्रूर दुनिया की रंगत बदलने के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नही करता। उपन्यास में देश के विभाजन का मसला भी उठाया गया है। मणि के तीसरे उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' की कथाभूमि भी राजस्थान का रेगिस्तान ही है। रम्या गांगुली अपने पालक, लोकधर्मी नाट्य अध्येता शमीक बाबू से अपनी मा—पन्ना नटी का आंशिक इतिहास जान टूटी-छूटी कड़ियां मिलाने राजस्थान की बरास ढाणी आती है। सुरध्यानी ख्याल पर शोध करते हुए राजस्थान में भटकते हुए अविवाहित शमीक बाबू को एक डेढ बरस की रम्या का दायित्व संभालना पड़ गया। बरांस ढाणी पहुंच कर रम्या शमीक बाबू के परिचित चेतराव के यहा ठहरी, पर यह उसकी मंजिल नहीं थी, उसे तो सुरध्यानी ख्याल मण्डली तक पहुंचना था—जहां उसकी मां नटी थी। इस कठिन यात्रा के लिए उसने गाड़िया लुहारों के साथ स्वयं को एकाकार करने का पूर्ण तथा सफल प्रयत्न किया। गाड़िया लुहारन वुज्जी, चेतराव की पत्नी नयली, वुज्जी की बेटी दीवी आदि से उसका गहरा, आत्मीय रिश्ता कायम हो गया। हर फैल में कुख्यात, दीवी का आत्मीय नन्दे भी उसकी जिन्दगी में आया, पर वह उससे नफरत ही करती रही। धीरे-धीरे, परत-दर-परत नन्दे के चरित्र के उजले आयाम उसके सामने उभरे। नन्दे ने उससे दो वादे किये—उस स्थान पर ले जाने का जहां पन्ना ने हवेली बनवाई थी,

और उसके असली बाप से मिलवाने का। नन्दे ने अपने ये दोनों वादे पूरे किये। इसी बीच रम्या को नन्दे का असली परिचय भी मिला। नन्दे वस्तुत: एक प्रख्यात चित्रकार आनन्द सोनटके है, जैसलमेर बाड़मेर बीकानेर के रेतीले राग को अपनी कूची के रंगों में सहेजने में रत; और साथ-साथ अपनी जड़ों की खोज में व्यस्त। इस दुनिया से आनन्द का रिश्ता एक अवैध बच्चे के रूप में जुड़ा, और इधर बरसों से वह एक गाडिया लुहार के रूप में रह रहा है, खानाबदोशी को पूरी तरह स्वीकार कर चुका है। अपनी जड़ों की खोज में ही व्यस्त है रम्या भी। वह भी कलकत्ता छोडकर इसीलिए राजस्थान आई है। अन्त मे पता चलता है कि चेतराव ही रम्या का असली पिता है और है पन्ना का जाट प्रेमी। स्वाभाविक ही है कि 'पिंजरे में पन्ना' पढ़ते समय हमारा ध्यान एलेक्स हेली की बहु चर्चित पुस्तक 'रूट्स' की ओर जाता है, विषय वस्तु के साम्य के कारण। निश्चय ही रूट्स मे 'पिंजरे···' की-सी चुस्त भाषा, किस्सा कोई, रोमांचक कथा मोड और सेक्स के चटखारे नही है, पर वहां है गहरी निष्ठा और अतिशय प्रामाणिकता। 'पिंजरे···' की कथा एक साथ कई दिशाओं में चलती है जिससे अपनी जड़ों की खोज की बात गौण होकर रह जाती है। भूमर-संदीप प्रसंग कथा का हिस्सा नही बन पाता है। मणि का चौथा और नवीनतम उपन्यास है 'मेरी स्त्रियां'। यहां वे राजस्थान के रेगिस्तानी अचल से दूर हटे हैं। लेखक के जीवन मे आने वाली छह स्त्रियों मे सबसे महत्त्वपूर्ण है दीवान बुक कॉर्नर की सेल्सगर्ल नीलम्मा। उपन्यास का उत्तरार्द्ध और महत्त्वपूर्ण अंश इसी पर केन्द्रित है। नीलम्मा एक क्रांतिकारी है जो हैदराबाद के शोषकों से लोहा ले रही है। लेखक की रुचि नीलम्मा की क्रांति का चित्रण करने की बजाय अपनी स्त्रियो के यौन जीवन का चित्रण करने मे ज्यादा रही है। यो इस उपन्यास में ही नही, शेष उपन्यासों में भी प्रतिरोध किसी-न-किसी रूप मे मौजूद अवश्य है। 'सफेद मेमने' मे जस्सू नक्सलवादियो के साथ चला जाता है, 'पत्तों की बिरादरी' का शुबो शोषण का प्रतिकार करता है, 'पिंजरे मे पन्ना' में समकालीन भ्रष्ट राजनीति के प्रतीक रिछपाल का विरोध है और 'मेरी स्त्रियां' मे नीलम्मा क्रांतिकारिणी है। लेकिन इनमे से एक भी प्रसग ऐसा नही है जिसे लेखक ने अपेक्षित विस्तार और निजी सहानुभूति प्रदान की हो। लेखक ने सर्वत्र परिवर्तनाकांक्षा या क्रांति को यौन के बरक्स रखा है। यों भी मणि के पात्रों को इसमें ज्यादा ही रुचि है। मणि के चारो उपन्यासो का ढर्रा एक ही है। एक कुशल व्यापारी की मानिन्द वे अपनी किताब मे हर बिकाऊ चीज की नुमाइश लगाते हैं—गरीबी, शोषण, अत्याचार, लड़ाई, क्रांति और सेक्स। जहां उन्हें इस बात का श्रेय देना आवश्यक लगता है कि उन्होने एक अछूती कथा-भूमि—राजस्थान का रेगिस्तान—चुनी है, वहीं यह भी कहना जरूरी लगता है कि यह रेगिस्तान राजस्थान का नहीं, एक कुशल व्यापारी की

कल्पना का है।

लेकिन यह न कहना भी ग़ैर-ईमानदारी होगी कि मणि की-सी सृजनात्मक भाषा और कथा-शिल्प प्रान्त के किसी अन्य कथाकार के पास नहीं है। मणि प्रमुखत: आंचलिक कथाकार हैं और अपने अंचल की भाषा पर उन्हें पूरा-पूरा अधिकार है। अपने पात्रों की भाषा को ज्यो-का-त्यों पकड़ने मे उन्हें महारत हासिल है और वर्णनों मे वे अपने कवि होने का पूरा-पूरा फायदा उठाते हुए हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समकालीन गद्य की बानगियां जुटाते हैं। उनके गद्य में आंचलिकता और आधुनिकता का समावेश अक्सर मेरे मन में यह प्रतिक्रिया उपजाता है कि अगर किसी तरह फणीश्वरनाथ रेणु और निर्मल वर्मा की प्रतिभाओं को मिला पाना संभव होता तो परिणाम कुछ-कुछ ऐसा ही होता। मणि एक बेहद जीवन्त, समर्थ भाषा के धनी, जागरूक, संवेदनशील, सशक्त कथाकार है, लेकिन वे अपनी इस सामर्थ्य का उपयोग कर कोई सार्थक कृति अभी तक नहीं दे पाये हैं। हां, उनकी सफलता के बारे में दो राय नहीं हो सकती।

रेगिस्तान की बात चलने पर इसी भूमि पर रचित 'बंजर धरती' की चर्चा भी आवश्यक है। मोहर्रसिंह यादव ने अपने इस एक मात्र उपन्यास में राजस्थान के एक पिछड़े गांव की राजनीति के चित्रण के माध्यम से पूरे देश में हरिजनोत्थान के नाम पर किये जा रहे छद्म को उजागर किया है। गांव में उपलब्ध बिना बटी जमीन भूमिहीन हरिजनों में बांट देने के सरकारी आदेश पर गांव मे हुई दो परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएं उपन्यास का प्रस्थान बिन्दु हैं। भूमिहीनों को इस घोषणा से पुलक महसूस होती है तो भूस्वामियों को आशंका। समर्थ भूस्वामी जोड़-तोड़ बिठाकर दो बीघा बंजर धरती प्रति व्यक्ति के हिसाब से हरिजनों को बांटने का फैसला करवाते हैं। भूमिहीन मजदूरों मे से नथिया इस अन्याय का विरोध करने लगता है, परन्तु चालाक भूस्वामी उसे अपने ही लोगों से काट देने की साजिश मे सफल हो जाते हैं। शोषण का एक रूप नसबन्दी के तीन केस लाने की अनिवार्यता में भी व्यक्त हुआ है। कुआरी हरिजन लड़की कमली के यौन शोषण के माध्यम से शोषण का एक और आयाम उभारा गया है। नथिया व्यवस्था पर जबर्दस्त टिप्पणी करता है—"कैसे काले दिन आये हैं। गरीबी मिटाने का ढोंग करके क्या-क्या जुर्म किये जा रहे हैं?" यादव को मुबारकबाद कि शोषण का चित्रण करने के बहाने उसने 'नंगई' में रस नही लिया। परिणामतः शोषण के वर्णन से हमारा गुस्सा उभारने में पूरी तरह सफल होते हैं। लेकिन यहां आंचलिकता का मुग्धकारी रूप नही है, बावजूद स्थानीय भाषा की महक के। यह भी उपन्यासकार की सफलता ही है।

छद्म को ही उजागर करते हैं अशोक शुक्ल भी। लेकिन उनके औजार भिन्न हैं। अपने पहले व्यंग्य उपन्यास 'प्रोफेसर पुराण' में अशोक ने शिक्षा-जगत् के छद्म

को बेनकाब किया है। उनकी मार से बचा कोई नहीं है—विद्यार्थी, अध्यापक, और तंत्र। लेकिन इस उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी है उपमाओं की झड़ी लगाने की अशोक की आदत। भाषा का यह तेवर व्यंग्य लेख में तो चल जाता है पर उपन्यास में असंगत हो जाता है। अच्छा हुआ, दूसरे उपन्यास 'सेवा मीटर' में शुक्लजी ने यह अन्दाज नहीं अपनाया। इस लघु उपन्यास में फन्तासी के माध्यम से आज के समाज और विशेषत: उसके राजनीतिक पक्ष का खाका खींचा गया है। उपन्यास का प्रारम्भ दफ्तरी दुनिया की झलकियों से होता है जहां के बाबू लोग रिश्वत लिये बिना तिनका तक तोड़कर देने को तैयार नहीं हैं। पर ये इतने चालाक भी हैं कि झगड़ालू और सिद्धान्तवादी लोगों से रिश्वत के लिए नहीं उलझते। "बाबू गंगाराम, हर आदमी के अन्दर एक गांधी छिपा हुआ है। वह पता नहीं कब, पता नहीं क्यों प्रकट हो जाय, लेकिन जब भी वह प्रकट हो जाय, उससे बहस करना बेकार है।" इन दफ्तरी लोगों को टालना-फुसलाना भी खूब आता है। गरीबों का शोषण उनकी आदत में शुमार है। तभी तो कथा नायक बुड्ढा कहता है—"मैंने अपने गांव के लोगों को बतियाते सुना है कि दफ्तरों की चाय में आदमियों का खून मिला रहता है। इसीलिए दफ्तर की चाय पीने में मुझे घिन आती है···लेकिन आप पियो साहब, आपको आदत है, आदत पड़ जाय तो चाय क्या, खालिस खून भी पी सकता है आदमी।" यही हाल अस्पतालों का भी है जहां आदमी को ठीक करने के लिए नियुक्त डाक्टर बिना मरीज की ओर निगाह उठाये ही नुस्खा लिख दिया करते हैं। उपन्यास में कल्पना की गई है एक सेवा मीटर की जो आदमी द्वारा की जा रही सेवा को रिकार्ड करता है। इस सेवा मीटर को किसी राजनीतिक दल के पास जाकर सील करवाना होता है। महत्त्व सेवा का नहीं, उसके अंकन का है। राजनीतिक दलों को सदा ऐसे लोगों की जरूरत रहती है जो सेवा तो करते रहें पर चुनाव का टिकिट न मांगें। मीटर सील करवाने से पहले विरोधी (दल) की हर बात का विरोध करने और उसे नेस्तनाबूद करने की शपथ लेनी होती है। दलों ने ऐसे वर्कशाप भी बना लिये हैं जहां कम सेवा करके भी मीटर को तेज चलाया जा सकता है। इस तरह 'सेवा मीटर' समकालीन राजनीति और समाज के छद्म पर बड़ी तल्ख टिप्पणी है। अन्त में बुड्ढे की टिप्पणी हालांकि कुछ ज्यादा ही अभिधात्मक हो गई है, पर है बहुत सटीक—"हमारे जैसे लोग कितनी भी सेवा कर लें, मगर मीटर को उतना तेज नहीं दौड़ा सकते, जितना वे लोग दौड़ायेंगे···वे लोग हमेशा आगे रहेंगे···उन लोगों को पकड़ा नहीं जा सकता···वे ही सच्चे सेवक माने जायेंगे···अखबारों में उन्हीं की तस्वीरें छपेंगी···चारण भाट उन्हीं के गीत गायेंगे···इतिहास उन्हीं की जय-जयकार करेगा···वे अजेय हैं।"
अशोक शुक्ल का तीसरा व्यंग्य उपन्यास है 'हड़ताल हरिकथा'। इस उपन्यास का सम्बन्ध भी शिक्षा-जगत् से है। एक तरह से तो यह उपन्यास 'प्रोफेसर पुराण' की

अगली कड़ी ही है। जहां (मंगतू राम के सेवा से हटाये जाने पर) 'प्रोफेसर पुराण' खत्म होता है लगभग वहीं (अस्थाना के सस्पेंशन) से 'हड़ताल हरिकथा' प्रारम्भ होता है। 'पुराण' में मंगतूराम मुनीमजी की नाराजगी का शिकार होते हैं तो 'हरिकथा' मे अस्थाना कालेज प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष की बेटी को नकल करते हुए पकड़ने के कारण निलम्बित किये जाते हैं। यह अलग बात है कि निलम्बन के प्रकट कारण कुछ और हैं जो ववील लेखक, "इतने अविश्वसनीय थे कि निलम्बन आदेश में ही लिख दिये गये थे।" उपन्यास में अध्यापकों और मैनेजमेंट की खबर तो ली ही गई है, छात्रों को भी नहीं बख्शा गया है। यही नहीं, इनसे आगे जाकर राजनीति और प्रशासन की भी खबर ली गई है। डायरेक्टर प्रिंसिपल से किस तरह व्यवहार करता है, वह खुद कितना नपुंसक है, प्रशासन में मन्त्री का कितना हस्तक्षेप है और हड़ताल के बारे में मन्त्री का रुख पार्टी के हानि-लाभ से कितना परिचालित होता है, ये सारी बातें उपन्यास को प्रामाणिकता प्रदान करती है। यहां लेखक उपमाओं की झड़ी लगाने के मोह से बहुत हद तक मुक्त होता प्रतीत होता है। जहां पूरे हिन्दी साहित्य मे ही व्यंग्य उपन्यासों का अभाव है, वहां राजस्थान की धरती से आये अशोक शुक्ल के ये तीन व्यग्य उपन्यास विशेष महत्त्व रखते हैं। हालांकि सख्या का अपने आप में कोई महत्त्व नही होता, परन्तु मात्र तथ्य के रूप मे यह बात सामने रखना जरूरी है कि अशोक शुक्ल हिन्दी के एकमात्र उपन्यासकार हैं जिन्होने तीन व्यंग्य उपन्यास लिखे हैं।

अजमेर के रमेश उपाध्याय के तीन उपन्यास 'चक्रव्यूह', 'दण्डद्वीप' और 'स्वप्न-जीवी' उनके राजस्थान में रहते ही लिखे गये और छपे। अब रमेश दिल्ली मे बस गये हैं और 'कथन' के सम्पादक तथा जनवादी लेखक संघ के एक प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में यश प्राप्त कर चुके हैं। वे अब उस तेवर को छोड़ काफी आगे निकल चुके हैं जो इन उपन्यासों में था, परन्तु प्रान्त के अच्छे उपन्यासो पर बात करते समय अब भी इन उपन्यासों को छोडा नही जा सकता। साफ-सुथरी भाषा, जीवन को देखने वाली पैनी नजर, औपन्यासिक शिल्प पर पूरा अधिकार—अपनी इस पूंजी के बल पर रमेश ने कथा जगत् में अपने लिए सम्मानप्रद स्थान बनाया है। रमेश के इन उपन्यासों पर इसी पुस्तक मे एक स्वतन्त्र आलेख मे विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रान्त के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं पानू खोलिया। पुस्तकाकार मात्र दो उपन्यास—'सत्तर पार के शिखर' और 'टूटे हुए सूर्यबिम्ब', तथा एक उपन्यास साप्ताहिक हिन्दुस्तान के पन्नों में—'जो अपने थे'। 'सत्तर पार के शिखर' 79-80 में राजस्थान साहित्य अकादमी के विशिष्ट मीरा पुरस्कार से भी सम्मानित हो चुका है। इस उपन्यास में प्रो० पवनकुमार जोशी और शकुन्तला के चूर-चूर हुए विवाह की किरणों से लहूलुहान बच्चों मिन्नो और रूबी की वेदना तो है

ही, स्वयं पवन की भटकन भी है। दो बच्चियों को सम्हालते-सम्हालते खुद बिसर रहा पवन कभी पड़ोस की कुंआरी लड़की सीमा की तरफ फिसलता है तो कभी विधवा टेलीफोन आपरेटर कुंदन के साथ यह सोचकर नई जिन्दगी शुरू करने के सपने संजोता है कि शायद दो अधूरे व्यक्तित्व मिलकर एक नई इकाई बन सकें। लेकिन ऐसा हो नही पाता है। वह फूहड, असंस्कृत औरत शकुन्तला और मां बाप, भाई बहन, बहनोई सब बीच मे आ टपकते हैं, पवन की मृत्यु उपन्यास का अन्त है। दूसरे उपन्यास 'टूटे हुए सूर्य बिम्ब' मे एक की बजाय दो प्राध्यापक हैं। नरेश और कौशल। यहां टूटन का स्तर भी दूसरा है। हिटलरनुमा पिता ने नरेश को सदा डांटा-फटकारा है, निकम्मा कर दिया है। हाई स्कूल मे फर्स्ट आने तक पर उसे डाटा ही है। स्वाभाविक है कि वह कुण्ठित और दब्बू हो गया है। उसको बी० एस-सी० मे थर्ड डिवीजन आने पर लेखक एक जोरदार टिप्पणी करता है—"भारतीय विश्वविद्यालयों का थर्ड क्लास···खास कर नरेश ऐसे घरों का। न मरने को छूट जाता है न जीने को बच जाता है। वह सीधे-सीधे ब्रह्मराक्षस बन जाता है जिसका कोई उद्धार मुमकिन नही, लेकिन यह ब्रह्मराक्षस जैसे-तैसे हिन्दी मे एम० ए० करता है और किसी कालेज मे प्राध्यापक बन जाता है। उसे मिलने वाली तनख्वाह तीन सौ पाच रुपये का हिसाब पिता लगा लेते हैं। सौ रुपये वह घर पर दे—दो कुंआरी बहनों के लिए, और दो सौ रुपयों से दो भाइयों के साथ गुजारा करे। रहे पाच रुपये, सो कार्ड-लिफाफे और मनीआर्डर के। नरेश का फट पड़ना स्वाभाविक ही है—"हम क्या खाते हैं—हम कुछ नहीं खाते। हम गम खाते है, भर पेट। और जीते हैं।" अपने गुस्से को और धारदार बनाते हुए वह कहता है—"कभी-कभी जी मे आता है—खूब सारे बम लाऊं और इस मुल्क को नेस्तनाबूद कर दू—जहां पूरा खानदान फिर बेटे की लाश पर जमा होकर उसकी हड्डिया चिचोड़ता है।" मां बाप की स्वार्थपरकता पर टिप्पणियां 'सत्तर पार'' में भी हैं। बाप बिना पूछे बेटे की शादी भी कर देता है पर उसे बहू को अपने साथ ले जाने नही देता। उल्टे, औरत के प्रति उसके मन मे विकृति भर देता है। परिणामत: नरेश धाता के साथ कभी सहज नही हो पाता। पुरानी पीढ़ी की मान्यताएं इस भूखे-प्यासे दम्पति को सहज मिल सकने वाले दाम्पत्य सुख से भी वंचित कर देती हैं। उपन्यास के दूसरे प्राध्यापक कौशल की कथा भी कुछ-कुछ ऐसी ही है। उसने बड़े बाप की बेटी से ब्याह किया है और वे लोग उसे सहज भाव से नही अपना सके हैं। बार-बार उसका अहं आहत होता है और बार-बार वह उनसे लड़ने को नये हथियार बांधता है। बार-बार टूटता है। आलोचना के नाम से नोट्स लिखना शुरू करता है, पर तीन-चार हजार रुपये भी उसके मन की गरीबी को अमीरी में तब्दील नही कर पाते हैं। "आफ्टर आल, मैं एक कालेज में लेक्चरर ही तो हूं। चुहिया की खाल आखिर कितनी फूलेगी? कैसे उसमें से पूरा हाथी पैदा हो सकता है?"

वह कभी भी अपने को पूरे तौर पर अपनी बीवी का पति महसूस नहीं करा पाता है···लेकिन इसी कौशल को यह देखकर भयंकर पीड़ा भी होती है कि उसका नरेश धीरे-धीरे एक निहायत दुनियादार आदमी में बदल गया है, उसने खुद को ख़त्म कर दिया है और 'खुशहाल' हो गया है। अब उसका जीना-मरना भी महज लाभ-हानि के लिए बंधा रह गया है। वस्तुत: नरेश और कौशल दोनों की त्रासदी एक ही है। यह परिवेश उन्हें अपने ढंग की जिन्दगी नहीं जीने देता। उन्हीं को नहीं, हम सबको आज सब कुछ औरों के लिए करना पड़ रहा है। कौशल का प्रश्न हम सब का प्रश्न है—"धाता, बताओ, हमने कौन-से सुख चाहे थे? कब हमने कहा था कि हमें खुशियां दो, सल्तनत दो···तख्ते ताऊस दो···फिर क्यों हमारे लिये यू पंजर खड़े कर दिये गये?" वास्तव में ऐसी जिन्दगी बेमानी ही तो है जो नरक हो। जिन्दगी को नरक बनाया है समाज के वर्तमान ढांचे ने, जो असमान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है। पानू खोलिया की सफलता यह है कि उन्होंने बिना अभिधा का सहारा लिये यह बात बड़े कलात्मक ढंग से कही है। इस आलेख के प्रारम्भ में एक उपन्यास की चर्चा के बहाने, रामदरस मिश्र को उद्धृत कर मैंने प्रान्त के लेखन की जिस कमजोरी को रेखांकित किया है, पानू खोलिया के उपन्यास जैसे उसकी काट हैं। पानू के यहां उपन्यासों में भी कहानी-शिल्प है—संकेतात्मकता, और पाठक से सहभागिता की मांग। लेखक कम, बहुत ही कम कहता है, पाठक के समझने के लिए बहुत कुछ छोड़ देता है। परिणामत: उसके दोनों ही उपन्यासों में जो कसावट है वह पूरी हिन्दी के भी बहुत कम उपन्यासों में देखने को मिलती है। पानू की एक और विशेषता है—अपने लेखन को निरन्तर संवारने का प्रयास। शायद इसीलिए 'सत्तर पार' का पवन उपन्यास के पहले संस्करण में तो मरता है पर दूसरे संस्करण में वे खुद इस अन्त को बदल देते हैं।

शरद देवड़ा के पहले उपन्यास 'टूटती इकाइयां' में भी दाम्पत्य जीवन की टूटन चित्रित है। उपन्यास की चर्चा उसकी बेबाकी और शिल्प की अभिनवता के कारण अधिक हुई थी। यहां दाम्पत्य की इकाइयां ईर्ष्या के कारण नहीं टूटती बल्कि मूल्यगत संक्रमण के कारण अपनी अर्थवत्ता और पारस्परिक सम्बद्धता खो बैठती हैं। उपन्यास *तीन अनाम पात्रों—नारी, पुरुष और पत्नी के दृष्टिकोणों से* लिखा गया है। शरद देवड़ा का दूसरा उपन्यास 'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा' साहित्यकारों की एक विशिष्ट पीढ़ी—हंग्री जनरेशन, बीट जनरेशन के मैनिफेस्टो को कथाकृति का आकार देने के कारण और इस प्रयास की अभिनवता के कारण चर्चित रहा। संभवत: इस तरह के विषय पर यह हिन्दी का एकमात्र उपन्यास है। लेकिन कुल मिलाकर यह रचना मैनिफेस्टो से आगे बढ़कर उपन्यास तक पहुंचते-पहुंचते रह ही जाती है।

वैसे इसी खतरे से जूझे हैं डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय भी। उनका पहला

उपन्यास 'रीछ' राजस्थान के थोड़े-से दीर्घकाय और विचारधारा-प्रधान उपन्यासों में से एक है। आमुख में कहा गया है—"जिन मूल्यों और धारणाओं को आज के लिए आवश्यक मानता हूं, उन्हें आलोचना द्वारा गत दस वर्षों से प्रस्तुत करता आ रहा हूं, लेकिन उन्हें 'रूप' देने की आवश्यकता थी और इस उपन्यास में यही कोशिश की गई है।" ये मूल्य निश्चय ही मार्क्सवादी मूल्य हैं। कथानायक विमल अपना जीवन समाज को बदलने के लिए समर्पित करता है। एक और कथा क्रांतिकारी मोहन की भी है। उपन्यासकार ग्रामीण समाज के प्रामाणिक अंकन, विभिन्न पात्रों के सजीव चित्रण और अपनी स्पष्ट पक्षधरता से हमें प्रभावित करता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के बावजूद यह उसकी मौलिक स्थापना है कि भारत में समाजवादी समाज की स्थापना प्रजातांत्रिक तरीके से हो सकती है, सशस्त्र क्रांति उसके लिए अनिवार्य नहीं। उपन्यास में प्रगतिशील आन्दोलन की चर्चा भी विस्तार से आई है। उपन्यास के शीर्षक का आधार रीछों के बारे में प्रचलित यह मान्यता है कि वे तलुवे चाट-चाट कर दूसरों का खून पी जाते हैं। चांदसी गांव को रीछों के एक जंगल के रूप में चित्रित किया गया है। लेकिन उपन्यास शुद्ध रूप से गांव का उपन्यास नहीं है, बावजूद इसके कि इसमें गांव का भरपूर चित्रण हुआ है। विमल गांव से बाहर फरफन्द, आगरा और नैनीताल भी जाता है और इसी बहाने लेखक गांव और शहरों की तुलना भी दे पाया है। उपन्यास वैचारिकता से समृद्ध है और प्रशंसनीय यह है कि विचारधारा रचनाकार की रचनाधर्मिता के लिए सीमा नहीं बनी है शक्ति बनी है।

अपने दूसरे उपन्यास 'पक्षधर' में जिसे हिन्दी का एक मात्र गुरिल्ला उपन्यास भी कहा गया है, उपाध्याय जी ने पूंजीवादी व्यवस्था से लड़ाई के अंकन के लिए फैंटेसी की रचना की है। "इस उपन्यास में पक्षधरता केवल राजनैतिक सक्रियता के स्तर पर ही प्रकट नहीं होती, बौद्धिक जीवन के ऊहापोहों में भी उसका स्वर सुनाई पड़ता है। एक प्रकार का तल्ख तेजाबी अहसास पूरे उपन्यास में आदि से अन्त तक व्याप्त है।" विध्वंस का तर्क पूरे उपन्यास में व्याप्त है और 'रीछ' से भिन्न यह भी कि यहां लेखक प्रजातन्त्र की संसदीय प्रणाली को सर्वथा नकारता है।

उपाध्याय जी के ये दोनों उपन्यास विचारों से भरपूर हैं और इसीलिए औसत से अधिक पाठकीय संवेदन की अपेक्षा रखते हैं। स्पष्ट पक्षधरता के कारण वैचारिक स्तर पर उपन्यासों से सहमति-असहमति भी दो टूक ही है, पर यह भी निश्चित ही है कि प्रान्त के उपन्यास लेखन में वैचारिक दृष्टि से इतने समृद्ध उपन्यास बहुत अधिक नहीं हैं।

डा० उपाध्याय का तीसरा और नवीनतम उपन्यास 'जाग मछन्दर गोरख आया' एक नितान्त भिन्न भावभूमि का उपन्यास है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट

है, यह उपन्यास नाथ पंथ के दो गुरुओं मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ से सम्बन्धित है। उपन्यास का बड़ा भाग मत्स्येन्द्रनाथ को समर्पित है, गोरखनाथ की कथा को बहुत कम स्थान मिल पाया है। उपन्यास का शीर्षक एक लोक प्रचलित उक्ति से लिया गया है और उपन्यास में इस उक्ति के भीतर के सत्य की पड़ताल की गई है। उपन्यास मे स्वच्छन्द भोग और संयम का द्वन्द्व चित्रित करते हुए संयम की विजय दिखाने का प्रयास है। डा० प्रभाकर श्रोत्रिय ने इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखा है—"गोरक्ष की योग क्रियाओं का जिस कौशल और अर्थपरक ढंग से वर्णन किया गया है, कम-से-कम मैंने, इससे पहले नही पढ़ा। नाथ-पंथ के हठयोग, तांत्रिक वाममार्ग साधना आदि की गहरी समझ विद्वान लेखक को है। साधारण अध्येता के वश की यह बात न थी। प्राचीन भारतीय साधना-पद्धति को लोकान्वेषण से जोड़ने का यह प्रयास कम महत्त्वपूर्ण नही है।"

एक भिन्न स्तर पर, भिन्न प्रकार की वैचारिक समृद्धि के दर्शन वरिष्ठ रचनाकार पं० जनार्दन राय नागर की उपन्यास श्रृंखला 'शंकराचार्य' की अब तक प्रकाशित प्रथम दो कड़ियों मे होते हैं। यह पूरी श्रृंखला हिन्दी साहित्य की एक महती उपलब्धि सिद्ध होगी।

अब तक कहानीकार के रूप मे ही परिचित हबीब कैफी ने अपने पहले उपन्यास 'अ-नायक' मे, जिस पर उन्हे साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिला, आज की युवा पीढ़ी पर पड़ रहे कई दबावों—बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, शोषण, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, स्वार्थपरक राजनीति आदि का चित्रण करते हुए इस पीढ़ी की उद्दाम जिजीविषा का जीवन्त चित्र खींचा है। शोषण की प्रतिक्रिया में खेत को आग लगा देने तथा मजदूरों के हित मे उठ खड़े होने से बब्बन को एक सक्रिय नायक का गौरव मिल जाता है। उपन्यास के अन्त मे उसका 'और मैं सुबह का इन्तजार करने लगा' कथन सार्थक लगता है क्योंकि इस सुबह को लाने का प्रयत्न उसने किया है। सहज भाषा और अकृत्रिम चित्रण उपन्यास को अतिरिक्त महत्त्व देते है।

बाद की पीढ़ी मे प्रान्त के सबसे समर्थ उपन्यासकार सिद्ध हुए है स्वयं प्रकाश। 'सूरज कब निकलेगा' कहानी संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता स्वयंप्रकाश के दो उपन्यास अब तक प्रकाशित हुए हैं—'ज्योति रथ के सारथी' और 'जलते जहाज पर'। ज्योतिरथ एक तरह से फैंटेसी है, सूरज कब निकलेगा के बाद, सूरज कैसे निकलेगा—अर्थात् आज की हर तरह से निराश कर देने वाली स्थितियों के बीच बेहतर भविष्य की आशा की किरणों की पहचान। ऊपरी तौर पर 'जलते जहाज पर' का परिप्रेक्ष्य इस उपन्यास की तुलना में ज्यादा निजी लग सकता है, पर गहराई में जाने पर वहां भी व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य ही है। स्वयंप्रकाश की वैज्ञानिक समझ, परिवेश को पकड़ने वाली पैनी नजर

और बेहद जीवन्त भाषा उनके उपन्यासों को प्रान्त के अन्य उपन्यासों से अलग और ऊंचे स्तर पर प्रतिष्ठित करती हैं। वामपंथी वैचारिक आग्रह उनके लेखन की शक्ति भी है और सीमा भी। यद्यपि इस आलेख में मैंने बाल उपन्यासों की चर्चा नहीं की है परन्तु अपवाद स्वरूप स्वयंप्रकाश के सद्य प्रकाशित बाल उपन्यास 'परमाणु भाई की दुनिया में' की चर्चा करना आवश्यक लग रहा है। अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कि काश ! हिन्दी में ऐसे बाल उपन्यास अधिक संख्या में लिखे गये होते।

यहां जिन उपन्यासों की चर्चा की गई, उनके अतिरिक्त भी बहुत सारे उपन्यास प्रान्त मे लिखे गये हैं। सभी उपन्यासों पर चर्चा न तो सम्भव है न आवश्यक। इसी पुस्तक मे अलग से सभी उपन्यासो की एक सूची सन्दर्भ हेतु दी जा रही है। विगत लगभग 25 वर्षों में प्रकाशित ये उपन्यास संख्या की दृष्टि से तो आश्वस्त करते हैं परन्तु स्तर की दृष्टि से नही। इस आलेख में तो स्वभावतः बेहतर उपन्यासों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, पर कुल मिलाकर बहुत सारे उपन्यासों को लेकर तो स्थिति यह बनती है कि जो कुछ लिखा जाना था वह लिखा नही गया, जो लिखा गया वह छप नही सका और जो छपा वह छपने योग्य नही था। यही हाल लगभग प्रकाशित उपन्यासों पर चर्चा का भी रहा। जो कुछ प्रकाशित हो गया उस पर चर्चा नहीं हुई और जो चर्चा हुई उसकी कोई सार्थकता नहीं हो पाई। इन सब स्थितियों के चलते प्रान्त के बाहर प्रान्त के औपन्यासिक सृजन की कोई बहुत प्रखर इमेज नही बनी। हालांकि नन्द चतुर्वेदी का यह कथन पूर्णतः सही है कि—"प्रान्तीयता से सृजन का अन्तिम सम्बन्ध नही है" फिर भी प्रान्त की दृष्टि से सृजन पर विचार करना सुविधा की दृष्टि से तो आवश्यक है ही, कारणों की पड़ताल करने (और यदि संभव हो तो उनका निराकरण करने) की दृष्टि से भी इस तरह की चर्चा युक्तिसंगत लगती है। मुझे इस बात पर विचार करने में कोई दोष नजर नही आता कि पिछले 25 वर्षों में राजस्थान मे अधिक संख्या मे अच्छे उपन्यास क्यो नही लिखे गये, या कि राजस्थान का सृजन बाहर चर्चित क्यों नही हुआ।

राजस्थान में औपन्यासिक सृजन की दृष्टि से पहला अवरोधक तत्व आर्थिक दृष्टि से इस प्रान्त का पिछड़ापन रहा है। उपन्यास लेखक के सामने प्रकाशक के अभाव का संकट बराबर रहा है। प्रकाशन व्यवसाय की दृष्टि से राजस्थान की स्थिति अच्छी कभी भी नही रही। परिणामतः रचनाकार के मन मे बराबर यह भय बना रहा कि जो कुछ वह लिखेगा वह छप भी पायेगा या नहीं। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ तो कविता-कहानी का भी विकास प्रान्त में हुआ, पर उपन्यास तो प्रकाशक की ही अपेक्षा रखता है। जिन लेखकों को प्रकाशन के अवसर मिले (रांगेय राघव, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, उमेश शास्त्री, राजेन्द्र मोहन

भटनागर, ब्रजभूषण आदि) उन्होंने निरन्तर लिखा—यह बात राजस्थान के प्रकाशित उपन्यासों की सूची देखकर समझी जा सकती है। अनेक कारणों से बीकानेर शहर में पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय पनपा तो वहां के उपन्यासकारों ने भी तेजी से उपन्यास लिखे, प्रकाशित करवाये। नाम गिनवाना जरूरी हो तो चन्द्र के अतिरिक्त सुमेर सिंह दईया, करणीदान बारहठ, शम्भू दयाल सक्सेना, श्री गोपाल आचार्य, धर्मेश शर्मा, आनन्द कौर, अजीज आजाद, एजाज सिद्दीकी, विष्णु भाटी, ललित कुमार आजाद, प्रेम सक्सेना, पुरुषोत्तम आसोपा, सत्य शकुन, पुष्कर शर्मा, रामपुरोहित सुगम आदि के नाम सामने हैं। आज कुल मिलाकर स्थिति यह है कि बीकानेर मे राजस्थान के सर्वाधिक उपन्यासकार हैं। लेकिन उपन्यास छप जाना ही तो उपन्यासकार की यात्रा का अन्त नही होता। उस पर चर्चा हो, यह भी तो लेखक के लिये जरूरी है—उसकी प्रसिद्धी के लिए ही नही, बेहतरी के लिए भी। इस दृष्टि से भी राजस्थान का लेखक पिछड़ा हुआ है। यहां के प्रकाशकों के पास समुचित व्यावसायिक दृष्टि का अभाव रहा। न तो वे सुरुचिपूर्वक उपन्यास छाप पाये और न उनका समुचित प्रचार-प्रसार कर पाये। हाल के वर्षों मे इस स्थिति मे थोड़ा बदलाव जरूर आया है परन्तु इस बीच काफी नुकसान हो चुका है। राजस्थान में प्रकाशित अधिकांश उपन्यास प्रकाशन-मूल्य की दृष्टि इतने दरिद्र हैं कि उन्हें छूने को भी जी नही चाहता। गन्दी छपाई, प्रूफ की अनगिनत गलतियां, कुरुचिपूर्ण प्रस्तुति। प्रकाशन पूर्व सम्पादन का तो प्रश्न ही नही उठता। लेखक ने अगर गलत लिख दिया तो गलत ही छप भी गया। प्रान्त के प्रकाशक ने तो अपने उपन्यासों को समीक्षार्थ भिजवाने में भी कंजूसी बरती। लेखक अगर उससे कुछ प्रतियां ले भी गया तो वे मित्रों में बंट कर रह गई। उपन्यास प्रकाशन को मिली उपेक्षा की स्थिति का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि प्रान्त की साहित्य अकादमी ने 1961 से 1981 तक जो कुल 71 हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित कीं उनमें उपन्यास केवल 2 हैं और वे भी 1980 में प्रकाशित हुए हैं।

लेकिन इस चिन्ताजनक स्थिति के बावजूद प्रान्त में पिछले 25 सालों में लगभग तीन-साढ़े तीन सौ उपन्यास प्रकाशित हुए भी हैं। उनका पूरे हिन्दी लेखन के परिप्रेक्ष्य मे क्या स्थान है ? आंचलिकता के लिहाज से रेणु, व्यंग्य के लिहाज से श्रीलाल शुक्ल, नई तकनीक के लिहाज से मनोहर श्याम जोशी या समग्र उत्कृष्टता के लिहाज से हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, भीष्म साहनी के आसपास ठहर सकने वाले कितने उपन्यासकार हमारे प्रान्त मे हैं ? राजस्थान के लेखन को जानबूझकर उपेक्षा की गई या कि वह स्वयं उपेक्षा का पात्र था ? डा० नवल किशोर बिना हिचक कहते हैं—"पुस्तक प्रकाशन के बाद भी हमारे प्रदेश के कई लेखक अपने योग्य ध्यान नही खींच पाये—यह हम बखूबी जानते हैं। इसका

कारण वह साहित्यिक राजनीति है जो पहले इलाहाबाद से शासित होती थी, बाद में दिल्ली से और अब तो बड़े-छोटे पत्रकार हावी हैं, जो सृजन से ईमानदारी से नहीं, पेशे से जुड़े हैं।' इसी बात को नन्द चतुर्वेदी और दो टूक लहजे में कहते हैं—"हमारे यहां अभी भी उस साहित्यिक भाईचारे का अभाव है जो कृतियों को लेकर साफ-सुथरी दृष्टि को प्रश्रय देता हो।" निश्चय ही प्रान्त के बाहर के समीक्षक-आलोचक ने राजस्थान के लेखन की उपेक्षा की। यह प्रवृत्ति स्वस्थ तो नहीं कही जा सकती कि समीक्षा का एक आधार प्रान्तीयता हो, पर जहां पूरे प्रान्त का लेखन उपेक्षित रहा हो वहां यह बात उठाना आवश्यक अवश्य हो जाता है। लेकिन स्वयं प्रान्त के आलोचक की भूमिका क्या रही—इस बात पर भी तो विचार कर लिया जाये। डा० देवराज उपाध्याय, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० नवल किशोर हिन्दी कथा आलोचना को इसी प्रान्त की देन हैं। जहां तक मुझे स्मरण है, स्व० डा० देवराज उपाध्याय ने रांगेय राघव पर एक भाषण दिया था जो बाद में अकादमी से प्रकाशित भी हुआ, और डा० नवलकिशोर ने अकादमी के ही लिए राजस्थान के कथा साहित्य पर एक लम्बा लेख काफी पहले लिखा—इसके अतिरिक्त प्रान्त के किसी भी आलोचक ने प्रान्त के औपन्यासिक सृजन पर जमकर शायद ही कुछ लिखा हो। हमारी अपनी रुचि भी बाहर के रचनाकार में ही रही। बाहर के घटिया सृजन पर लिखकर भी हम गौरवान्वित होते रहे, परन्तु प्रांत के उत्कृष्ट सृजन पर भी लिखना हमें अपनी शान के खिलाफ लगा, संकीर्णता लगा। मन्नू भंडारी के कथन ('क्षमता होगी यो व्यक्तित्व बनेगा') से असहमत तो नहीं हूं पर मुझे आलोचक की भूमिका में फिर भी बेहद विश्वास है। ठीक है, वह हर ऐरे-गैरे को लेखक नहीं बना सकता, परन्तु जो लेखक है उसे तराश तो सकता है, चमका तो सकता है—कभी दोष बताकर तो कभी प्रशंसा कर। निर्मल वर्मा और उषा प्रियंवदा के सन्दर्भ में डा० नामवर सिंह की भूमिका सर्व-विदित है। थोड़ा और पीछे जायें तो यह भी याद आयेगा कि जायसी पर आचार्य शुक्ल ने और कबीर पर आचार्य द्विवेदी ने क्या बृहत्तर हिन्दी समुदाय का ध्यान आकृष्ट नहीं किया था? आलोचक किसी अच्छी रचना को चर्चा के केन्द्र में तो ला ही सकता है। यह सही है कि प्रान्त में साहित्यिक पत्रकारिता आज बहुत समृद्ध नहीं है, पर यह भी एक जमाना था जब यहां से ढेर सारी पत्रिकाएं निकलती थीं। 'बिन्दु', 'वातायन', 'लहर,' तटस्थ', 'और', 'सम्बोधन', 'क्यों', 'सम्प्रेषण', अकथ,' 'मधुमती'…। क्या भूमिका रही इनकी प्रान्त के उपन्यास के सन्दर्भ में? कुल मिलाकर प्रान्त के समग्र लेखन के सन्दर्भ में? आलोचक और पत्रिकाएं दोनों ही मौन। मुखर अकेला रचनाकार। उसने जो और जैसा चाहा, लिखा। मेरी यह विनम्र मान्यता है कि अगर प्रान्त का आलोचक इस दिशा में सजग होता तो हमारे उपन्यास का जो स्तर आज है उससे बेहतर होता। प्रफुल्ल

हाड़ा अपने उपन्यास 'सीमा और विजय' में मंचीय किस्म के निर्देश देते हैं, सत्येन्द पारीक 'नो वैकेन्सी' के कथानक को प्रारम्भ कर एकदम आज़ाद छोड़ देते हैं—चाहे जिधर भटकने के लिए, डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर 'सूर श्याम' में तानपुरे पर धुन बजवा देते हैं...। यदि आलोचक ने गम्भीरतापूर्वक इन उपन्यासों पर लिखा होता अथवा गोष्ठियों में जमकर इन पर चर्चा हुई होती तो रचनाकारों को भविष्य के लिए तो मार्ग दर्शन मिलता। राजस्थान साहित्य अकादमी ने अवश्य, हालांकि कुछ विलम्ब से, इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य प्रारम्भ किया है। अपने आंचलिक उपनिषदों की शृंखला मे बाड़मेर में 'आठवें दशक का राजस्थान का उपन्यास साहित्य' शीर्षक से एक उपनिषद् तथा बाद में भीलवाड़ा मे 'राजस्थान का कथा साहित्य' शीर्षक से एक उपनिषद् आयोजित किये तथा उनमें पठित आलेखों को 'मधुमती' में प्रकाशित भी किया। दृष्टिवान अध्यक्ष डा० प्रकाश आतुर ने 'पाठक मंच' योजना प्रारम्भ कर इस तरह के प्रयासो को और तेज़ किया है। मधुमती मे कृतिकार प्रस्तुति योजना ने भी प्रान्त के रचनाकार पर ध्यान केन्द्रित करने में महती भूमिका का निर्वाह किया है। पर निश्चय ही इस तरह के अधिक प्रयास वांछित हैं। मेरी विनम्र मान्यता है कि आलोचक की तीखी, यहां तक कि कटु आलोचना भी रचनाकार का हित ही साधती है। न केवल रचनाकार अपनी कमजोरी से परिचित होता है, रचना चर्चा के केन्द्र में आती है और पाठक का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता है। यह भी बेहद जरूरी है, क्योंकि अनेक कारणों से, जिन पर यहां विस्तार मे जाना अप्रासंगिक होगा, पुस्तक पाठकों से दूर चली गई है।

ये सारी बातें कहना इसलिए आवश्यक था कि प्रान्त का लेखन और विशेषतः उपन्यास पिछले कुछ वर्षों से मेरी चिन्ता का विषय रहा है और मैं उसकी बेहतरी के लिए उत्सुक हूं। हमारे उपन्यासकार अधिक अच्छा लिखें, यह किसे नहीं रुचेगा? लेकिन जो स्थिति अभी है वह भी पूरे हिन्दी लेखन के परिप्रेक्ष्य में भी विचारणीय है। जब हम पूरे देश के हिन्दी लेखन से कुछ नाम उठाते हैं और प्रश्न करते हैं कि हमारे पास उनके समकक्ष क्या है, तो कहीं हम यह गलती तो नहीं करते कि लेखन को निर्जीव वस्तु मानकर तुलना कर रहे हों? पिछले पन्ने मे जब मैं कुछ उत्कृष्ट रचनाकारो के नाम गिना कर प्रान्त की ओर देख रहा था तब भी यही प्रश्न मेरे मन में था। कई वर्षो पहले हिन्दी की एक आलोचिका ने एक पुस्तक मे हिन्दी के अनेक रचनाकारों को अनेक विदेशी रचनाकारों के समकक्ष रखा था, मसलन पन्त हिन्दी के वर्ड्सवर्थ है, प्रेमचन्द गोर्की आदि। उस प्रयास को उनका बचपना माना गया था। लेकिन मैं बात तुलना की नहीं कर रहा। मैंने सवाल उठाया है चर्चा और प्रशंसा का। कोई क्यों और कैसे चर्चित और प्रशंसित होता है इसके विस्तार मे जाने की जरूरत नहीं। आज जब हम प्रान्त के पिछले

25 वर्षों के औपन्यासिक सृजन पर दृष्टिपात करते हैं तो बिना दिमाग और याददाश्त पर ज्यादा जोर डाले भी रांगेय राघव, मणि मधुकर, मन्नू भण्डारी, रमेश उपाध्याय, पानू खोलिया, मोहर सिंह यादव, अशोक शुक्ल, स्वयंप्रकाश आदि के नाम मय उनके उपन्यासों के शीर्षकों के हमें एकदम से याद आते हैं। अकेले हमारे रांगेय राघव गर्व करने योग्य कई उपन्यास हमें उपलब्ध कराते हैं—मुर्दों का टीला, महायात्रा, कब तक पुकारूं, आखिरी आवाज आदि। मन्नू भण्डारी के दोनों उपन्यास 'आपका बण्टी' और 'महाभोज' किसी भी अन्य उपन्यास से उन्नीस नहीं ठहरते। पानू खोलिया के दोनों उपन्यास हिन्दी के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों से तुलनीय हैं'''और इस सूची को काफी आगे तक ले जाया जा सकता है। वस्तुतः हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पूरा का पूरा भारतीय उपन्यास साहित्य आज एक ऐसे दौर से गुजर रहा है कि अभिभूत और चमत्कृत कर देने वाली कृतियां दर्जनों नहीं है। और सच तो यह है कि साहित्य में सभी कुछ श्रेष्ठ ही नहीं होता है। विश्व साहित्य में भी जब आज हम कुछ रचनाओं को याद करते हैं तो कितनी रचनाओं को भुला देने के बाद? ऐसे में लगभग चार सौ उपन्यासों में से जो अच्छे हैं वे समग्र हिन्दी उपन्यास के श्रेष्ठ से बहुत पीछे नहीं है, यह मानने में मुझे कोई उदारता नहीं बरतनी पड़ रही है। पर मेरी चिन्ता इस बात को लेकर है कि जो अब लिखा जाना है वह बेहतर कैसे हो। इसका दायित्व उपन्यासकार पर तो है ही, आलोचक पर भी है। दुहराव के बावजूद यह कह रहा हूं कि प्रान्त के सृजन के संदर्भ में यहां के आलोचक को अपनी सही भूमिका का निर्वाह अभी करना है। भूमिका का निर्वाह अकादमी जैसे प्रतिष्ठान को भी और अधिक प्रखरता से करना है। वह लेखक-आलोचक को साथ-साथ बैठने का अवसर प्रदान कर सकती है। सम्पादकों-आलोचकों का दायित्व तो है ही कि वे प्रान्त के सृजन पर चर्चा करें, करायें।

राजस्थान के हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त मानव-मूल्य

'मूल्य' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न संदर्भों मे भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। गणितशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र—इन सभी में 'मूल्य' के अपने विशिष्ट अर्थ है। मूल्य की तत्त्व-दर्शनमूलक व्याख्याएं भी हैं, मनोविज्ञानमूलक भी। परन्तु इस विस्तार मे न जाकर साहित्य के सन्दर्भ में मूल्य के आशय को जानकर आगे बढ़ना उपयुक्त होगा।

आज साहित्य में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु या विचार के प्रति अनुकूल धारणा के अर्थ मे होता है। मूल्य और प्रतिमान आज समानार्थक हो गये हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी के शब्द हैं :

> "Values are socially approved desires and goals that are internalized through the process of conditioning, learning, socialization and that becomes subjective preferences, standarad and aspirations."[1]

मूल्यों के सन्दर्भ मे मानव और समाज का एक अजीब-सा रिश्ता है। अज्ञेय ने इस बात को बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्ति दी है—"मानव पहला ऐसा प्राणी है—और अब तक का एकमात्र प्राणी है—जो मूल्यों की सृष्टि करता है, ऐसे मूल्य भी रच सकता है जिनको वह अपने से बड़ा मानता है—ऐसे मूल्य जिनके लिए वह प्राण देना भी उचित समझता है।···मानव ऐसा पहला प्राणी है जिसके सामने कोई ऐसी चीज होती है जिसको वह अपने जीवन से बड़ा मानता है, *जिसके लिए वह अपना जीवन दे सकता है, जिसके लिए उसकी समझ मे आ* सकता है कि ऐसा भी किया जा सकता है।···इसको मे संस्कृति की बुनियाद कहता हूं। यही मनुष्य मूल्यों का स्रष्टा है। पहला मूल्य स्वाधीनता है, और उसके बाद यह कल्पना है कि मूल्य के लिए प्राण दिये जा सकते हैं, प्राण से बड़ा भी कोई मूल्य होता है।"[2] मानव के समाज के साथ रिश्ते को स्पष्ट करते हुए उनके शब्द हैं—"*समाज और व्यक्ति की परस्पर निर्भरता भी उन मूल्यों में से एक है जिसका* स्रष्टा और प्रतिष्ठाता मानव ही है।···लेकिन मूल्यों की अवधारणा मानव

व्यक्त करता है, समूह रूप से मानव जाति नही और न मानव-समाज अथवा उसके विभिन्न सामाजिक संगठन। मूल्यों के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज की परस्परता यों क्रियाशील होती है कि अभिमूल्यों की अवधारणा व्यक्ति करता है और अभिमूल्य के अनुरूप आचरण के सामान्य स्तर और नियम समाज द्वारा परिभाषित होते हैं और उनके अनुरूप सामाजिक आचरण का नियमन, मूल्यांकन और संशोधन समाज के जिम्मे रहता है। समय-समय पर इन सामान्य कसौटियों की ही कसौटी की आवश्यकता हो आती है और इसके लिए नये अभिमूल्य व्यक्ति के द्वारा आविष्कृत, निरूपित और प्रस्तुत किये जाते हैं। स्पष्ट है कि इन नये अभिमूल्यों को तुरन्त सामाजिक स्वीकृति मिल जाये, ऐसा आवश्यक नही है। बहुधा व्यक्ति को लम्बी अवधि तक समाज को चुनौती देते हुए खड़े रहना पड सकता है, भर्त्सना, अपमान और बहिष्कार भी सहना पड़ सकता है, कभी-कभी हिंसा का सामना भी करना पड़ सकता है। फिर भी परस्परता का जो आधार हमने बताया है वह ज्यों का त्यों बना रहता है—कि आदर्श अथवा अभिमूल्य प्रस्तुत करना व्यक्ति का क्षेत्र है और उनके अनुरूप सामान्य सामाजिक आचरण का नियम समाज का क्षेत्र।"[3] और मानव मूल्यो की अभिव्यक्ति साहित्य की सभी विधाओं मे होती है परन्तु 'लोक जीवन का महाकाव्य' उपन्यास इन्हे कुछ अधिक ही रास आता है। मुझे स्मरण आते है राल्फ फॉक्स के शब्द, उन्होंने कहा था—

> "The novel is not merely fictional prose, it is the prose of men's life, the first art to attempt to have take the whole man, and give him expression."[1]

अपनी प्रख्यात पुस्तक 'मानव मूल्य और साहित्य' मे धर्मवीर भारती ने विस्तार से यह स्पष्ट किया है कि "आज का उपन्यास डास्टायवस्की, विक्टर ह्यूगो या टालस्टाय के उपन्यासों की भांति शाश्वत मूल्यो की स्थापना नही कर पाता। उनकी दो-टूक राय है कि "पूरे समकालीन उपन्यास का स्तर पिछली महान् कृतियों की तुलना मे असन्तोषजनक है।" (पृ० 171) हिन्दी उपन्यास के बारे में भी उनकी राय कुछ ऐसी ही है—"हमारे उपन्यासो का केन्द्र—मानव या तो स्वत. उपन्यासकार के रुग्ण अस्वस्थ मन का प्रक्षेपण मात्र बन रहा है, या उसकी दलगत राजनीति का अखबारी चित्र।" (पृ० 173)। भारती की राय से असहमति की पर्याप्त गुंजाइश है। जिसे उन्होंने 'रुग्ण अस्वस्थ मन का प्रक्षेपण' कहा है वह हिन्दी उपन्यास का एक दौर विशेष था जो समय बीतने के साथ स्वतः भुला दिया गया है और जिसे वे 'दलगत राजनीति का अखबारी चित्र' कहते है यह उनके कोप का भाजन इसलिए (भी) है कि भारती दूसरे पक्ष के रचनाकार हैं।

राजस्थान की हिन्दी उपन्यास यात्रा भी उतनी ही पुरानी है जितनी पूरी हिन्दी की उपन्यास यात्रा। यह बात अलग है कि इस तथ्य को प्रभावशाली ढंग से रेखांकित नहीं किया गया है। हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' 1882 में प्रकाशित हुआ और राजस्थान का पहला उपन्यास पण्डित अम्बिकादत्त व्यास कृत 'आश्चर्य वृत्तान्त' 1863 में रचा गया और डा० गोपाल (राय) के अनुसार इसका प्रकाशन 1893 में हुआ। 1897 में जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ का 'वीरेन्द्र' उपन्यास भी आया। हमारे अपने प्रान्त के महता लज्जाराम शर्मा (1863-1931) हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों में वरेण्य हैं ही। स्वाधीनता पूर्व तक राजस्थान में हिन्दी उपन्यास की धारा निरन्तर प्रवहमान रही। स्वाधीनता प्राप्ति ने इस धारा के प्रवाह को और तीव्र किया। 1947 से अब तक प्रान्त में रचित उपन्यासों की संख्या 400 के लगभग है।

प्रख्यात प्रगतिशील रचनाकार रांगेय राघव राजस्थान के उपन्यासकारों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रगतिशील जीवन मूल्य रांगेय राघव के सभी उपन्यासों में स्पष्ट हैं। अपने एक उपन्यास 'हुजूर' में वे कहते हैं—"आज मैं अनुभव करता हू कि जब तक श्रम करने वाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा, इन्सान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी।"[5] रांगेय राघव ने सर्वत्र अपने चरित्रों से शोषण, साम्राज्यवाद, एकतंत्र, असमानता का विरोध करवाया है। उपन्यास चाहे आंचलिक हों, सामाजिक हों अथवा ऐतिहासिक। 'मुर्दों का टीला' का नायक विल्लिभित्तूर कहता है, "मेरे लिए कोई देश अपना नहीं, कोई पराया नहीं, जहां संतोष से मनुष्य मुस्कराता है वही मेरा स्वर्ग है। जहां असाम्य और विद्वेषों से घृणा हसती है, वही मेरी भावनाओं की टक्कर का क्षेत्र है। स्वतंत्रता मेरा ध्येय है। अपने दुःख को दूसरों के दुःख के सामने खो देना मेरा कर्तव्य है। मनुष्य को सहायता देना मेरा एकमात्र धर्म है। और पृथ्वी को स्वर्ग की कल्पना ही न रखकर पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने का श्रम मेरे महादेव की शक्ति है।"[6] यहां विल्लिभित्तूर के सारे मूल्य जैसे सूत्रबद्ध हो गये हैं। और ये मूल्य उसके शब्दों में ही नहीं कर्म में भी हैं। यह विशेषता रांगेय राघव के सभी उपन्यासों में मिलती है। वे अपनी सभी कृतियों में चरित्रों की कथनी और करनी दोनों ही के माध्यम से प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना करते चलते हैं। रांगेय राघव की एक बड़ी विशेषता यह है कि उनमें विचारधारा विशेष के लिए अन्ध आग्रह नहीं है। 'दायरे' में वे सत्यदेव के मुंह से कहलाते हैं—"नहीं राज जितने भी लोग किसी की बात आंख मूदकर मानते हैं, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, सिख, कम्यूनिस्ट आदि सब ही मतों के पीछे चलने वाले लोग सीमित दायरों के मनुष्य होते हैं क्योंकि वे अपने गुरु की न कही हुई बात को नहीं समझते, वे तो उसकी कही हुई बात को भी नहीं समझते, वे अंधे और जाहिल होते हैं। जड़

होते हैं—इन दायरों से पार होकर देखो, आगे देखो, मनुष्य केवल मनुष्य है। जो इसे स्वीकार नहीं करता वही असली असभ्य और असली बर्बर है।" (पृ० 96)। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' अपने चर्चित उपन्यास 'एक और मुख्यमन्त्री' मे मूल्यों के टूटने की बात बडे दर्द के साथ उठाते हैं। इस उपन्यास का नायक अरविन्द मूल्यों के बंधन को तोड सफलता की राह पर आगे, बहुत आगे जा चुका है। सत्या के शब्दों मे, वह आज के युग का प्रतीक है। कोई कुकर्म उसने नही छोडा है। मानवीय मूल्य मानो उसके लिए है ही नही। पर लेखक इस स्थिति का पक्ष नही ले रहा है। वह तो त्रासदी को रेखांकित कर रहा है। मूल्यहीनता ही तो है आज शिखर पर। लगभग ऐसी ही स्थितियां हैं राजेन्द्र मोहन भटनागर के 'मंचनायक' मे। मानप्रकाश हेमन्त और ('चन्द्र' के) अरविन्द मे उतना ही अन्तर है जितना देश मे दोनो उपन्यासों के प्रकाशन काल के बीच (1969 तथा 1978) आया है। यानि स्थितियां ज्यादा भयावह ही हुई हैं। अरविन्द के पास शायद मूल्यों के कुछ अवशेष तो हों, मानप्रकाश हेमन्त इस दृष्टि से एकदम रीता है। धनराज चौधरी के 'प्रवाह', विनोद सोमानी हंस के 'एक था मन्त्री' और 'शतरंज का नायक' आदि मे भी राजनीति कर्मियो की मूल्यहीनता ही अंकित हुई है। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है श्रीमती मन्नू भण्डारी का 'महाभोज'। मन्नू भण्डारी को घर-परिवार के सीमित घेरे मे से कथानक उठाने वाली लेखिका के रूप मे ही जाना जाता रहा है ('आपका बण्टी')। पर उनकी भी तो अपनी संवेदनाए है, बाहर-भीतर के दबाव हैं। एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में उनके मूल्यो का परिचय देती ये पंक्तिया द्रष्टव्य हैं—"अपने व्यक्तिगत दु:ख-दर्द, अन्तर्द्वन्द्व या आतरिक 'नाटक' को देखना बहुत महत्त्वपूर्ण, सुखद और आश्वस्तिकारक तो मुझे भी लगता है, मगर जब घर मे आग लगी हो तो सिर्फ अपने अन्तर्जगत मे बने रहना या इसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नही लगने लगता? सम्भवतः इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो।"[1] 'महाभोज' के मुख्यमन्त्री दा साहब और भूतपूर्व मुख्यमन्त्री सुकुल जी के लिए मानव मूल्यो का कोई अस्तित्व है ही नही। वे तो शतरंज की बिसात पर अपने-अपने मोहरो को शह देने मे लगे हैं। तभी तो ईमानदार पुलिस अधीक्षक सक्सेना को मुअत्तल किया जाता है। मूल्य-हीनता की पराकाष्ठा यह है कि किसी के भी जेहन मे यह सवाल तक नही उठता कि एक सीमित तनख्वाह वाले मुलाजिम डी० आई० जी० सिनहा के पास इतना धन कहां से आता है कि वे अपने यार दोस्तों को कीमती शराबें पिला सकते हैं और श्रीमती सिनहा के गले की शोभा बढ़ाने के लिए बीस-पच्चीस हजार का हीरों का हार सहज ही जुटा सकते हैं। चारों तरफ ऐसी ही मूल्यहीनता ही तो व्याप्त है। एक आपाधापी मची है। ऐसे मे किसे परवाह है मूल्यों की! सबको अपने

स्वार्थों की पड़ी है। उपन्यास मे वही स्थितियां हैं जो उपन्यास के बाहर की ज़िन्दगी में व्याप्त हैं।

प्रान्त के चर्चित उपन्यासकार मणि मधुकर ने 'पत्तों की बिरादरी' मे भी राजनीतिज्ञों की दुनिया को इसी मूल्यहीनता को उभारा है। वेश्या की महत्त्वाकांक्षी पुत्री पुसपाबाई राजनेताओं को खुश कर 'अम्पी' 'एम्मेले' बनने का ख्वाब देखती है और राजनेता हरलो डाकू से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। यानि यहां भी राजनेता हर तरह से मूल्यहीन हो चुके हैं। निजी स्वार्थ सारे मानवीय मूल्यों को दबाकर उन पर कुण्डली मार कर बैठे हैं। वैसे इस उपन्यास में एक शुबो भी है जो इन्सान की बेहतरी के लिए, मूल्यों की रक्षा के लिए अपनी जान की परवाह भी नही करता है। वह लड़ता है ताकि आग राख न हो जाये। उसके लिए देश का विभाजन भी कृत्रिम है। वह 'इन्दोस्तान' 'पकेस्तान' को नही पहचानता। "ये जो तुमने उड़दी डाट रखी है फौज की, ये ही मिनखपने के नाम पर सबसे बड़ी गाली है।" (पृ० 167)। वैसे, यह दुनिया सत्ता पक्ष के राजनीति कर्मियों की है। राजनीति मे सर्वत्र ही यह मूल्यहीनता नही है। स्वयंप्रकाश (ज्योति रथ के सारथी) का तो यही खयाल है। निश्चय ही हमारे अपने समाज में ऐसे राजनीति कर्मी भी हैं, चाहे वे कितने ही अल्पसंख्यक क्यों न हों, जिनके लिए मानव-मूल्य उनके प्राणों से बढकर हैं। चारू दा, कर्णिक, नागसेन, अब्दुल्ला ऐसे ही लोग है जो समाज के, देश के वर्तमान से इस हद तक असन्तुष्ट हैं कि उनमें बदलाव लाने के लिए अपनी हर सुविधा को भुला चुके है। यहां वे भोले-भाले गांव वाले भी हैं जो ईमानदारी के मूल्य से इस मजबूती से चिपके हैं कि कभी-कभी कोफ्त होती है। एक प्रसंग है—सूदखोर शाहजी की दुकान जला दी गई है, उनकी खाता बही भी अब नही बची है। पर गांव वाले कहते हैं कि वे मूल और सूद सब पाई-पाई चुका देंगे। "सुधीश की आंखों में आसू आ गये। असफलता के आंसू। व्यर्थता के आंसू—जिन्हें खुश होना चाहिए था वे दुःखी हो रहे है, आग बुझा रहे हैं, कर्जे में बंधे रहने का वादा कर रहे हैं।"[8] पर यह उन भोले-भूखे ग्रामीणों का मूल्य जो है। ऐसी ही है गनपत की लुगाई। अपने पति की नीच हरकतों को सह नही पाती है, उनका प्रतिरोध नही कर पाती है तो बजाय समझौता करने के, बावड़ी में कूद कर जान दे देती है। स्वयंप्रकाश के चरित्र अपने कर्म की सार्थकता के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हैं और समर्पित हैं। वे जो कुछ करते हैं, अपने लिए नही बल्कि अपने परिवेश को जीने योग्य बनाने के लिए, उसकी विषमताओं को मिटाने के लिए, शोषण को समाप्त करने के लिए। कितने अलहदा हैं वे सत्ता पक्ष के राजनीतिकर्मियों से ! डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के 'रीछ' और 'पक्षधर' में भी वामपंथी राजनीति कर्मी हैं और उनके जीवन मूल्य भी स्वस्थ, सकारात्मक हैं पर दोनों ही उपन्यासों में लेखक का ध्यान वैचारिक स्थितियों को उभारने पर अधिक

रहा है। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि प्रतिपक्ष के राजनीति कर्मियों में दक्षिण पंथी रुझान के कुछ चरित्रों के मूल्य भी इस आलेख मे प्रस्तुत करता, परन्तु मैं ऐसा कोई उपन्यास नही पा सका जिसमे उनको केन्द्र मे रखा गया हो।

राजनीतिक परिवेश के इन कतिपय चरित्रो के मानव मूल्यों की चर्चा के बाद अब हमारे अपने सामाजिक परिवेश के कुछ चेहरों को भी देखा जाये। निश्चय ही आज मूल्यों की टूटन सर्वत्र है। सामाजिक जीवन मे भी पुराने मूल्य बहुत तेजी से टूटे हैं और नये मूल्य उनका स्थान ले नही पाये हैं। कुल मिलाकर एक शून्य का एहसास बना हुआ है। हेतु भारद्वाज अपने लघु उपन्यास 'बनती बिगड़ती लकीरें' मे विनोद को एक ऐसे धनी युवक के रूप में सामने लाते हैं जो प्रिया से प्रेम करता है और फिर अधिक धन के लालच में किसी और लड़की से शादी कर लेता है, बिना प्रिया के टूटने की चिन्ता किये। इधर प्रिया के धनी पिता वकील साहब अगर विवशतावश प्रिया का विवाह आनन्द से करने को मजबूर होते भी हैं तो अपनी आदर्शवादिता का ढोल पीटने से बाज नही आते। यह है अमीरों की मूल्यहीन और छद्म से भरी दुनिया। पानू खोलिया के 'टूटे हुए सूर्यबिम्ब' में अपने परिवेश-गत दबावों के कारण प्रो० नरेश अपनी सारी रुचियो को छोड़ केवल लाभ-हानि के लिए जीने लगता है। नरेश के पिता टिपिकल पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति है। हर जवान लड़की उनकी निगाहो में दुश्चरित्र है, औरत को दबाकर रखना, एक दर्जा नीचे रखना आवश्यक है, औरत और कुत्ता एक जात है। पिता की यह मानसिकता नरेश के मन मे शान्ता के प्रति एक ऐसी घृणा भर देती है कि वह उससे कभी सहज नही हो पाता। इस प्रकार पुरानी पीढ़ी के मूल्य नई पीढ़ी की जिन्दगी पर अपना असर डालते हैं। नरेश का साथी प्रो० कौशल भी ऐसी ही त्रासदियो का शिकार है। इन दोनों को ही किन्ही मूल्यो का सहारा नही है—न इनके अपने कोई मूल्य बच रहे हैं। बची है एक भटकन, अनेक दंश।

डा० पुरुषोत्तम आसोपा के 'पप्पू' में भी नई पीढ़ी पर पुरानी पीढ़ी के मूल्यों का हावी हो जाना रेखांकित किया गया है। पप्पू के माता-पिता दोनों ही उस पर अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं के दांव लगाये रहते हैं, उसे अपनी आकांक्षा के अनुरूप कृत्रिम ढंग से विकसित करने के प्रयत्न करते हैं, परिणामतः पप्पू जिन्दा रहना चाहकर भी मरने को मजबूर होता है।' यह है विकृत जीवन-मूल्यों की एक और मिसाल। मन्नू भण्डारी के 'आपका बण्टी' मे भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। अलग हो चुके मां-बाप शकुन-अजय अपनी लड़ाई मे बण्टी को भी शरीक कर लेते हैं। कभी रहा होगा वह जीवन मूल्य जब मां-बाप अपने बच्चों की खुशी के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया करते थे। 'आपका बण्टी' मे तो स्थिति यह है कि शकुन अपने बेटे बण्टी को एक ऐसा हथियार मानती है जिससे वह अजय को टॉर्चर कर सकती है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने अनेक उपन्यासों में तेजी से अमीर बने प्रवासी राजस्थानियों को चित्रित किया है। ऐसे ही एक उपन्यास 'बड़ा आदमी' में एक गरीब लडका फतह अर्थाभाव के कारण बार-बार प्रताड़ित होता है और फिर अमीर बनने के लिए अपने मामा के पास कलकत्ता जाता है। वहां उसे शिक्षा मिलती है—"पूंजी इकट्ठी करने के लिए अनैतिक बनना ही पड़ता है।" और वह बनता भी है। सारे मूल्यों को ठोकर मारता हुआ। पर उसका अन्त करुण होता है। बेटे-बहू से पूरी तरह अनादृत, अपेक्षित। खूब पैसा पर वह उसका उपयोग करने मे असमर्थ। यह लेखक की अपनी मूल्य-दृष्टि का परिणाम है। वह मूल्यहीनता के प्रतिपक्ष में है। उसे मूल्यों से लगाव है। मूल्यों का टूटना उसके लिए कष्टदायक है। पर टूटते हुए, ध्वस्त होते हुए मूल्यों का चित्रण उसकी विवशता है।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और यौन-शुचिता की दृष्टि से रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। करनटों के जीवन पर आधारित इस उपन्यास मे प्यारी सरलता से पर-पुरुष संसर्ग को स्वीकार कर लेती है और सुखराम के आपत्ति करने पर कहती है—"इत्ती जरा-सी बात के लिए मरना मुझे नहीं आता। औरत को तो औरत का ही काम करना पड़ता है। इसमें ऐसी क्या बात है?"[9] वस्तुतः उसके जो मूल्य हैं उनके अनुसार तन की पवित्रता से बढ़कर मन की पवित्रता है। तभी से तो वह कहती है—"नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना और बात।" कुछ ऐसे ही जीवन मूल्य हैं मणि मधुकर की सुरजा (सफ़ेद मेमने) के। बड़े गर्व से वह कहती है—"मुझ मे सामरथ्थ है, दस मरद एक छंट झेल सकती हूं। सिसकारी तक नही निकालूंगी। तुम भी नसें ढीली करने आये थे? करना चाहो तो कर लो। मुझे कोई जोर नही आयेगा।"[10] यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र की 'ढोलन कुंजकली' का भी यही सोच है—"डील का क्या घिसता है?" 'चन्द्र' के 'कथा एक नरक की' मे अवश्य स्थिति थोड़ी बदली हुई है जहां रम्भा बाबा जहरानंद का काम तमाम करती है क्योंकि वह व्यभिचारी था और नारेल गांव की स्त्रियां भी इसीलिए रसीला का काम तमाम करने का निर्णय लेती हैं। यहां नारी उन मूल्यों से गहरी संपृक्ति व्यक्त करती मिलती है जो आज भी हमारे प्रिय व काम्य मूल्य है।

श्रीगोपाल आचार्य के उपन्यास 'रतिप्रिया' में हमें एक और प्रकार की, भिन्न जीवन मूल्यों वाली नारी से साक्षात्कार होता है। रतिप्रिया नगरवधू है परन्तु वह अपने जीवन के हर संदर्भ में एक आदर्श, संभ्रान्त नारी है। एक पूर्ण नारी उसे कहा जा सकता है। संगीतकला-साहित्य-सुरुचि-सम्पन्न है वह। उसका कहना है—"उन सब गुणों के प्रति मेरी श्रद्धा है जो मानव को सुख, संपति, स्वास्थ्य, सुरक्षा और सम्मान की ओर अग्रसर करते हैं।...वास्तव में मैं

मानव के प्रति, उसके सर्वसुख के प्रति प्रतिबद्ध हूं, समर्पित हूं।"[11] रतिप्रिया जैसे चरित्रों की, जो उदात्त मानव मूल्यों से सम्पन्न है, राजस्थान के उपन्यास साहित्य में कमी नहीं है। रांगेय राघव, ज्ञान भारिल्ल, चन्द्र, राजेन्द्र मोहन भटनागर आदि के अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसे चरित्र—स्त्री और पुरुष दोनों ही—विपुल मात्रा में है। राजेन्द्र मोहन भटनागर के 'एक अंतहीन युद्ध' में अधिकतर चरित्र मानव मूल्यों के संवाहक ही हैं। परन्तु ये सारे चरित्र बीते युग के है। बहुत संभव है कि इन पर वर्तमान की भी छाप कहीं हो, पर निश्चय ही वहां रचनाकार सम्बद्ध काल की चेतना से सम्पृक्त रहा है अतः उसके चरित्रों के मूल्यों पर उस युग विशेष का प्रभाव होना उपयुक्त ही है। हमारा अतीत मानव मूल्यों की दृष्टि से तो गौरवपूर्ण ही रहा है। यही कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र उज्ज्वल मानव मूल्यों से युक्त मिलते हैं। परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से हमारे जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना मानव मूल्यों का विघटन रही है। वैसे, कमोबेश, यह स्थिति भारत की ही नहीं पूरी दुनिया की है। तभी तो भारत से बाहर भी उदात्त मूल्यों वाली कृतियां नहीं रची जा रही है। अमेरिका में बेस्ट सेलर तो लाखों लिखे जाते हैं पर अमर कृतियों का अकाल-सा है। पर हमारे अपने प्रान्त का उपन्यास विदेशी स्थितियों से कम, लगभग नहीं ही, प्रभावित है, अपनी स्थितियों से ही प्रभावित प्रेरित है। तो, देश के मूल्य विघटन का प्रांत के उपन्यास पर सबसे बड़ा प्रभाव यही पड़ा है कि हमारे यहां ऐसे चरित्रों का जबर्दस्त अभाव हो गया है जिन्हें उदात्त और शाश्वत मानव मूल्यों के धारक के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। यों, मिथ्या गर्व करना चाहे तो श्रीगोपाल आचार्य की 'रतिप्रिया' की सूची में रामगोपाल गोयल (अंधेरे के विरुद्ध, अग्नि पर्व), ब्रजभूषण (मंगलोदय, एक और एक ग्यारह, मां का आंचल), स्वामी शिवलखनदास (बदलती सूरत, ऊंची हवेली नीचा नगर) आदि के अनेक चरित्रों को लिया जा सकता है, पर उन्हें नहीं लेने का कारण यह है कि उन चरित्रों में प्रामाणिकता का नितांत अभाव है। किताबी मूल्यों को चरित्रों पर चस्पां कर दिया गया है। यहां चरित्र मूल्यों की बात तो कर लेते हैं पर उनके कर्मों से इसकी पुष्टि नहीं हो पाती। इस तरह ये चरित्र उदात्त मानव मूल्यों के वाहक-समर्थक होकर भी अविश्वसनीय होने के कारण उल्लेखनीय नहीं हैं। इसी क्रम में एक बात का उल्लेख और मुझे आवश्यक लगता है। आज जहां हिन्दी में ढेरों व्यावसायिक उपन्यास लिखे-छापे जा रहे हैं, कभी-कभी तो लगता है जैसे बाजारू उपन्यासों ने साहित्यिक उपन्यासों को पूरी तरह विस्थापित ही कर दिया है, छद्मनामी लेखकों की एक पूरी जमात आ और छा गई है, प्रामाणिक और जीवन से जुड़े लेखन का स्थान अपराध, रोमांस व सत्यकथा छाप लेखन ने ग्रहण कर लिया है, सौभाग्य व गर्व का विषय है कि राजस्थान इस विकृति से एकदम

अछूता ही रहा है। यहां ऐसे उपन्यास नहीं लिखे गये हैं। यहां के साहित्यिक लेखन के स्तर पर बहस और असहमति की गुंजाइश है परन्तु यह बात असहमति से परे है कि यहां गैर साहित्यिक लेखन नहीं हुआ है। इस तथ्य को मैं प्रान्त के रचनाकार के जीवन मूल्य के रूप में प्रस्तुत करना चाह रहा हूं। यहां का रचनाकार जो भी लिख रहा है, उसमें कलात्मक प्रौढ़ता का अभाव हो सकता है, पर यह बात मुझे बेहद आश्वस्तिकारक लगती है कि वह समस्त विकृतियों से दूर है। नहीं है उसके चरित्रों मे उदात्त मानव-मूल्य, कोई बात नहीं। हमारे राष्ट्रीय जीवन मे भी कहां हैं? क्षेत्र चाहे धर्म का हो, राजनीति का हो, शिक्षा का हो, समाज का हो, चिकित्सा का हो सर्वत्र ही तो मूल्यहीनता व्याप्त है। ऐसे में, प्रान्त के समकालीन उपन्यासों में व्याप्त मूल्यहीनता मुझे चिन्तित नहीं करती। राष्ट्रीय जीवन में मूल्यों की स्थापना होगी तो उपन्यास भी उससे अछूता नहीं रहेगा।

इस संक्षिप्त आलेख मे प्रान्त के सभी उपन्यासों की चर्चा नहीं हो पाई है। आवश्यक थी भी नहीं। यह प्रान्त के उपन्यासों का सर्वेक्षण नहीं है। मैंने उन्हीं उपन्यासों की चर्चा की है जो मुझे मानव मूल्यों की दृष्टि से विशिष्ट लगे। मेरा निष्कर्ष यही है कि प्रान्त के समकालीन उपन्यासों मे उदात्त मूल्य सम्पन्न चरित्रों का अभाव है। कुछेक ही उपन्यास ऐसे हैं जिनमे चरित्रो मे अनुकरणीय मूल्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी विश्वसनीयता के साथ। यह आकस्मिक नहीं है कि सर्वाधिक विश्वसनीय, मूल्यवान चरित्र वे ही है जिनका सम्बन्ध वामपथ से है। स्वयं प्रकाश के 'ज्योति रथ के सारथी' की चर्चा मैंने इस आलेख मे की ही थी। मणि मधुकर के 'मेरी स्त्रियां' की नीलम्मा भी एक ऐसा ही चरित्र है जो अपने मूल्यों के लिए सब कुछ सहने को प्रस्तुत है—"उसकी अपनी कोई जरूरत नहीं, जो भी कुछ है—उन लोगों के लिए, जो शोषित हैं, पीड़ित हैं।"[12]

वस्तुत: स्वातंत्र्य, गौरव, करुणा, सुख, सौंदर्य, समता, सद्‌भाव आदि मूल्यवान शब्दों का वर्तमान विषमतापूर्ण स्थितियो मे कोई अर्थ रह भी नहीं गया है। अत: एक तरह से यह उचित ही है कि हमारे प्रान्त के उपन्यासों में निरर्थक शब्द कम हैं। इस बात पर शर्मिन्दा होने की कोई जरूरत नहीं है। मूल्यों की टूटन, *अर्थहीनता और नैतिक स्खलन को हमारे प्रान्त के उपन्यासों ने पूरी विश्वसनीयता* और प्रामाणिकता से अंकित किया है। यह उनकी उपलब्धि है।

आस्कर वाइल्ड के इन शब्दो के साथ मैं अपनी बात पूरी करना चाहूंगा :

> "कलाकार सुन्दर कृतियों का निर्माता होता है—वे श्रेष्ठ हैं जिनके लिये सौंदर्य का अर्थ केवल सौंदर्य होता है। नैतिक या अनैतिक जैसी कोई कृति नहीं होती, या कृतियां कलात्मक होती हैं या कलाहीन। बस!···किसी कलाकार मे कोई मूल्यानुराग नहीं होता। नैतिक मूल्यानुराग लेखक की शैली का एक अक्षम्य आडम्बर है।"[13]

संदर्भ-संकेत

1. बी० सिंह मे मुखर्जी : द फटियर्स आफ सोशल साइंसेज : पृ०23
2. अज्ञेय : स्रोत और सेतु : सभ्यता का सकट निबंध : पृ० 43-44
3. वही : व्यक्ति और समाज निबंध : पृ० 118-19
4. रैल्फ फाक्स : द नावल एण्ड द पीपुल : पृष्ठ 62
5. रांगेय राघव : हुजूर पृ० 110
6. रांगेय राघव : मुर्दों का टीला : पृ०349
7. मन्नू भण्डारी : महाभोज : पृ० प्रारम्भ
8. स्वयं प्रकाश : ज्योति रथ के सारथी : पृ० 94
9 रांगेय राघव : कब तक पुकारू . पृ० 42
10. मणि मधुकर : सफेद मेमने : पृ० 55
11. श्रीगोपाल आचार्य : रतिप्रिया पृष्ठ 119
12. मणि मधुकर : मेरी स्त्रिया : पृ० 87
13. धर्मवीर भारती . मानव मूल्य और साहित्य पृ० 76

राजस्थान का आठवें दशक का हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना

उपन्यास को कुछ लोगों ने बुर्जुआ समाज का महाकाव्य कहा है। इस अर्द्ध निन्दास्तुति के बावजूद यह तथ्य है कि उपन्यास वर्तमान समाज की सर्वश्रेष्ठ व प्रामाणिकतम विधा है। उपन्यासकार अपने समाज से विचार और मान्यताएं ग्रहण करता है और उन्हे तराश कर कृति का आकार देता है। कभी रहा होगा उपन्यास केवल मनोरंजन का साधन, आज तो वह जीवन और समाज का आईना बन गया है, आज उपन्यास के ऊपर मानव जीवन की वास्तविक परिस्थितियो के चित्रण का दायित्व है। उसमें गम्भीरता से मानवीय संबंधों और सामाजिक मूल्यों का विवेचन किया जाता है। अपनी नवीन दृष्टि और संवेदनशीलता के कारण वह युग की धड़कनों को स्वर प्रदान करता है। सामाजिक विकास की नई दिशाओं की ओर इंगित करता है। इस नई सभ्यता के साथ-साथ जन्म लेकर उसकी प्रगति के साथ ही विकसित होते हुए भी आज उपन्यास किसी विशेष सभ्यता, संस्कृति और समाज व्यवस्था की वस्तु नही रह गया है वरन् उसका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव जीवन और समाज है।[1] देवकीनन्दन खत्री से प्रेमचन्द तक उपन्यास ने मनोरंजन से सोद्देश्यता तक की यात्रा कर ली थी। प्रेमचन्द से भी आगे बढ़कर आज हिन्दी उपन्यास जीवन के यथार्थ को अंकित करने के साथ-साथ उस यथार्थ का निर्माण करने वाले आर्थिक-सामाजिक तत्वो की बारीकी से पड़ताल भी करने लगा है।

राजस्थान मे उपन्यास के उद्भव और विकास का समुचित आकलन अभी होना शेष है। लम्बे समय तक प्रान्त का पहला उपन्यास स्फूर्णादेवी (छद्म नाम) कृत 'अबलाओं का इन्साफ' 1927 ई० माना जाता रहा है। पर अब बूंदी के रामप्रताप शर्मा का 'नरदेव' 1903 ई० मिल जाने से राजस्थान के हिन्दी उपन्यास का उद्गम भी लगभग समग्र हिन्दी उपन्यास के समानान्तर हो गया है। इनसे भी पूर्व बूंदी के ही महता लज्जाराम शर्मा के 'स्वतन्त्र रमा व परतन्त्र लक्ष्मी' तथा 'धूर्त रसिकलाल' उपन्यास 1899 मे व 'हिन्दू गृहस्थ' 1903 में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रान्त में और प्रान्त के लेखकों द्वारा रचित लगभग 400 उपन्यासों की सूची मेरे पास है। इस संख्या पर तो सहज ही गर्व

किया जा सकता है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिल्प और संवेदना के स्तर पर प्रान्त का उपन्यास शेष हिन्दी उपन्यासों के समकक्ष ही ठहरता है। हमारे कुछ रचनाकारों ने जहां प्रान्त के निजी रंगों को अपने लेखन मे स्थापित किया है उदाहरणार्थ यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' और मणि मधुकर ने, वही अन्य लेखकों ने और इन्होंने भी, सामान्य फलक पर ही पात्रों का अंकन किया है! पानू खोलिया या हेतु भारद्वाज या अशोक शुक्ल या राजानन्द या रमेश उपाध्याय के कैनवस प्रान्त के नही, अपने समय के कैनवस हैं। इस छोटे आलेख मे वर्तमान दशक के सारे उपन्यासों की सामाजिक चेतना का आकलन करना न तो सभव है और न उचित, अत मैं इस दशक के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासों की सामाजिक चेतना पर चर्चा करना उपयुक्त समझ रहा हूँ। उपन्यासों के चयन पर निश्चय ही असहमति हो सकती है पर यह खतरा तो हर चयन के साथ जुड़ा है।

सुपरिचित आलोचक और कथाकार हेतु भारद्वाज ने अपने लघु उपन्यास 'बनती बिगड़ती लकीरें' (1979 मे अर्थ नियन्त्रित समाज और परिवारों पर उसके बढ़ते जा रहे दबावो को बखूबी चित्रित किया है। इस समाज मे प्रेम करते समय भी आर्थिक स्तर बीच में आ जाता है। कथानायक आनन्द अपनी सह-पाठिनी प्रिया को मन-ही-मन चाहता तो है पर उसके और अपने आर्थिक स्तर का अतर तोलकर मन मसोसकर रह जाता है—"प्रिया के पिता के वैभव को देखकर वह स्तंभित रह जाता था। उसे लगता था कि इस परिवार मे तो वह ट्यूटर के रूप मे भी मिस-फिट है। वह टीटू को पढ़ाने के लिए उस कोठी मे घुसता था तो उसे एक अजीब-सा भय सताने लगता था कि उसकी गरीबी से इस मकान के ऐश्वर्य का कोई हिस्सा गन्दा न हो जाये"[2] इस अर्थ केन्द्रित समाज में प्रिया उसका परिचय अपने प्रेमी विनोद से अपने सहपाठी के रूप मे नही बल्कि टीटू के ट्यूटर के रूप मे कराती है। इस बात से क्या अंतर पड़ता है कि विनोद मे कोई कलात्मक रुचि नही है, बौद्धिक श्रेष्ठता नही है। अपने आर्थिक स्तर के कारण प्रिया के जीवन से उसका स्थान सुरक्षित तो है ही। बाद मे परिस्थितिवश प्रिया के पिता वकील साहब जब प्रिया की शादी आनन्द से करने को विवश होते हैं तो फिर अमीरों का एक रूप और उजागर होता है। अपनी विवशता को भी वे महानता बना कर प्रस्तुत करते हैं। समाज मे अपने प्रगति-शील विचारों और खुले दिमाग का ढिंढोरा पिटवाते हैं। वकील प्रिया—"वे तो दुनियादार आदमी हैं।"[3] प्रिया ही बाद मे आनन्द को बताती है— "डैडी ने प्रिया और आनन्द की शादी को सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपने पक्ष मे भुनाया था।"[4] और विनोद ने उसे क्यो छोड़ा? महज इसलिए कि विनोद के पिता को एक ज्यादा पैसों वाला व्यापारी बेटी वाला मिल गया था। इस तरह अमीरों की दुनिया मे शोषण ही शोषण है। विनोद का परिवार प्रिया का और

प्रिया का पिता आनन्द को गरीबों का शोषण ही तो करते हैं। कैसा है यह धनिक वर्ग ? विनोद को इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि उसकी गर्भवती प्रिया उससे छिटककर कहां जाएगी ? उसके मन में उसके प्रति कोई कोमलता, लज्जा, ग्लानि, कुछ भी नहीं है। आखिर एक व्यापारी पुत्र जो ठहरा वह। व्यापारी की जिन्दगी खरीद-फरोख्त से हटकर कुछ सोच ही नहीं पाती है ? और प्रिया के पिता ? "उन्हें अपनी प्रतिष्ठा की ज्यादा चिन्ता थी।"[5] लड़की के मन पर क्या गुजरी है, यह सोचने की उन्हे न फुरसत है न इच्छा। आनन्द से प्रिया के विवाह के निर्णय को वे आसानी से और निर्णय के अपने गुणावगुण के आधार पर स्वीकार नहीं करते। किन्तु निर्णय को वे तभी स्वीकार करते हैं जब उन्हें इसमें सामाजिक लाभ नजर आता है।

तो यह हैं क्रूर, निर्मम, अर्थ केन्द्रित समाज के भीतर की एक झांकी। यहां आदमी भी एक वस्तु, महज बिकाऊ वस्तु बनाकर रख दिया गया है। मानवीय भावनाएं इन लोगों के सोच के घेरे में आती ही नहीं है। जो संवेदनशील लोग दुर्भाग्यवश इनकी परिधि में आ जाते हैं उन्हें टूटना पड़ता है।

यही टूटन पानू खोलिया के चर्चित उपन्यास 'टूटे हुए सूर्य बिम्ब' (1980) में भी है, लेकिन एक भिन्न स्तर पर। 'टूटे हुए सूर्य बिम्ब' दो प्राध्यापकों नरेश और कौशल की कथा है। हिटलर नुमा पिता ने नरेश को सदा डांटा-फटकारा है, निकम्मा घोषित किया है, उसकी उपलब्धियों तक को नकारा है—हाईस्कूल में फर्स्ट क्लास आने पर भी डांट फटकार ही उसे मिली है। और इस तरह उसको, कुण्ठित और दब्बू बना दिया है। स्वाभाविक ही था कि नरेश बी० एस सी० में थर्ड क्लास आता। लेखक की बहुत सटीक टिप्पणी है—"भारतीय विश्व-विद्यालयों का थर्डक्लास···खास कर नरेश—जैसे घरों का। न मरने को छूट जाता है न जीने को बच जाता है। वह सीधे-सीधे ब्रह्म राक्षस बन जाता है, जिसका कोई उद्धार मुमकिन नहीं। थर्डक्लास, उससे बेहतर आदमी को असफल करार दे दिया जाये, लेकिन असफल करार दे दिए जाने पर उस 'चौरासी लाख ऊपर एक' योनि के अस्तित्व का क्या होगा जो एक नये डोम वर्ग का निर्माण करती और आदमी दुनिया भर की हिकारत, नफरत, जलालत और तिरस्कार के बीच अपने उद्धार के लिए भटकता है और भटकने के क्रम में फिर समाज के विकृत, भ्रष्ट अवचेतन का अंग बन जाता है ? पतन, हिंसा, टूटन, नरेश अब एक मूर्तिमान ब्रह्म राक्षस था। 'तो यह ब्रह्म राक्षस जैसे-तैसे हिन्दी मे एम० ए० करता है और किसी कॉलेज में प्राध्यापक बन जाता है। उसे मिलने वाली तनख्वाह तीन सौ पांच रुपये का हिसाब पिता लगा देते है। सौ रुपये वह घर पर दे—दो कुंवारी बहिनों के लिए और दो सौ रुपयों से दो भाइयों के साथ गुजारा करे। रहे पांच रुपये, सो कार्ड, लिफाफे और मनीआर्डर के। यानि 20013 यानि 66,66।

उसका फट पड़ना अस्वाभाविक नहीं लगता—"हम क्या खाते हैं—हम कुछ नहीं खाते। हम गम खाते है, भर पेट। और हैं।"[7] अपने गुस्से को और धारदार बनाते हुए वह कहता है—"कभी-कभी जी मे आता है—खूब सारे बम लाऊं और इस मुल्क को नेस्तनाबूत कर दूं—जहां पूरा खानदान फिर बेटे की लाश पर जमा होकर उसकी हड्डियां निचोड़ता है…"[8] पर इस सबके बावजूद पिता के मन में उसकी शादी की सामाजिक अनिवार्यता बरकरार है। उधार लेकर शादी कर भी दी जाती है। नरेश से कुछ भी पूछने की जरूरत नहीं समझी जाती। मिट्टी के लोंदे की तरह उसे मण्डप मे बिठाकर फेरे करवा दिए जाते है। इस बात की कोई जरूरत नहीं समझी कि वह बीवी को अपने साथ ले जाए। "पिता को डर था कि बीवी पर कबजा हुआ कि फिर उनकी उधारी नहीं लौटने की, वह सारा उनके मत्थे पड जाएगा। इसमे पिता-पुत्र का क्या रिश्ता ?"[9] यही पुरानी पीढ़ी की मानसिकता भी सामने आती है। उनके लिए हर जवान लड़की दुश्चरित्र है, औरत को दबाकर रखना, एक दर्जा नीचे रखना आवश्यक है, औरत और कुत्ता एक जात है। पिता की यह सीख नरेश के मन मे पत्नी शान्ता के लिए संदेह का एक बीज रोप ही देती है जो वक्त पाकर पनपता रहता है और इस तरह पुरानी पीढ़ी की मान्यताएं इस भूखे प्यासे दम्पति को सहज मिल सकने वाले दाम्पत्य सुख से भी वंचित कर देती है।

कौशल की कथा भी लगभग ऐसी ही है। यों उसमे और हेतु भारद्वाज के 'बनती बिगड़ती लकीरें' के आनन्द मे काफी साम्य है। कौशल ने भी बड़े बाप की बेटी से विवाह किया है और वे लोग उसे सहज भाव से नहीं अपना सके है। 'ऊंचे लोगो का रिश्तेदार हो जाना--जब तक कि खुद भी आदमी उतना ही ऊंचा न हो किस कदर यन्त्रणादायी होता है, कितना सदा-सर्वदा का एक अपमान, जो फिर भूसी की आग की तरह बुझना नहीं जानता। बात-बात मे छेक लगते हैं।"[10] बार-बार उसका अहं आहत होता है, बार-बार वह उससे लड़ने को नये हथियार बांधता है, बार-बार टूटता है। आलोचना के नाम से नोट्स लिखना शुरू करता है और उम्मीद करता है कि बड़ा आदमी हो जाएगा। पर तीन-तीन हजार रुपये कमाकर भी स्थिति बदलती नहीं है। मन की गरीबी अमीरो में नहीं बदल पाती है। 'आफ्टर ऑल मैं एक कॉलेज लेक्चर ही तो हूं। चुहिया की खाल आखिर कितनी फूलेगी ? कैसे उसमे से पूरा हाथी पैदा हो सकता है ?[11] और वह कभी भी अपने को पूरी तौर पर अपनी बीवी का पति महसूस नहीं करा पाता है। बाहर से वह भले ही रौब-दाब का प्रदर्शन करता रहे, दिखावे पर दिखावा करता रहे, और सिगरेट पीए तो वह किंग साइज पीए, औरो के यहां चाय सर्व हो तो उसके यहां कॉफी, और चप्पल पायजामा डालकर दूध-सब्जी लेने जाय तो उसका यह काम दस रुपये माहवार वाला छोकरा करे—पर यह सब भीतरी डर

की पैदावार है। इसके अतिरिक्त इस दिखावटी खुशहाली के नीचे न जाने कितनी असली खुशियों के कंकाल दबे पड़े हैं। किसी भावुकता में बहकर वह अपनी असलियत उजागर कर ही देता है *"कौशल एक पिटकर लौटा हुआ फौजी जवान* है नरेश, जो अब लोगों को अपनी बहादुरी, अपने जौहर और जीत के झूठे तमगे हिला-हिला कर उनके बीच जी ले जाने की तजबीज किया करता हैं। फालतू में लोगों के सामने दुखड़े रोना निहायत घटिया बात है। लोग, लोग हैं, तुम्हारी तरह के कमजोर अधूरे, जोड़-जुगत से किसी तरह जी ले जा रहे। महाप्रभु तो नहीं। अपने अन्दर की गरीबी-हां गरीबी उनके सामने खोलना या खुल जाने देना—उससे बेहतर है, कहीं डूब मरो।"[12]

लेकिन इसी कौशल को यह देख भयंकर पीड़ा होती है कि उसका नरेश धीरे-धीरे एक निहायत दुनियादार आदमी में बदल गया है, उसने युद्ध को खत्म कर दिया है और खुशहाल हो गया है। अब उसका जीना-मरना भी महज लाभ-हानि के लिए बचा रह गया है। उसके जीते रहने का मतलब है दो हजार रुपये महीना।

नरेश और कौशल दोनों की त्रासदी एक ही है। यह परिवेश उन्हे अपने ढंग की जिन्दगी में ही जीने देता है। उन्ही को नहीं, हम सबको आज सब कुछ औरों के लिए करना पड रहा है। कौशल का प्रश्न हम सबका प्रश्न है—"भ्राता बताओ हमने कौन से सुख चाहे थे। कब हमने कहा था कि हमें खुशियां दो, सल्तनत दो तख्ते-ताउस दो। फिर क्यों हमारे लिए ये मंजर खड़े कर दिए गए?[13] वास्तव में ऐसी जिन्दगी बेमानी ही तो है जो नरक हो। जिन्दगी को नरक बनाया है समाज के वर्तमान ढांचे ने जो असमान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है। यह आर्थिक असमानता दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है, और इसी के साथ बढता जा रहा है हमारे जीवन का त्रास। इस प्रकार हम टुकड़े-टुकड़े जिन्दगी जी रहे है, न चाहते हुए भी जी रहे हैं।

नाटकीय जीवन की अनेक कथाएं यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने भी अपने अनेक उपन्यासों मे अंकित की है। राजस्थान के कुख्यात सामन्ती जीवन को '[illegible]' अपने अनेक उपन्यासों (दीया जला-दीया बुझा, खम्मा अन्नदाता, ठकुरानी, महाराजा, रानी-महारानी, रक्त कथा, जनानी ड्योढी, पत्थर के आंसू, [illegible] ढोलन कुजकली आदि) का आधार बनाया है। श्री चन्द्र के सामन्ती जीवन [illegible] आधारित उपन्यासों में कुछ बातें लगभग सामान्य हैं। राजमहलों के [illegible] सामन्तों द्वारा किए जाने वाले शोषण और अत्याचार के ब्यौरे और [illegible] या एकाधिक पात्रों द्वारा इस शोषण व अत्याचार का प्रतिकार। [illegible] उपन्यास—'कथा एक नरक की' (1980) में श्री चन्द्र ने समाजवादी समाज [illegible] निर्माण के उद्देश्य से सामन्ती इतिहास की क्रूरताओं व भोगविलास के मूल्य पर

उसका फट पड़ना अस्वाभाविक नही लगता—"हम क्या खाते हैं—हम कुछ नही खाते। हम गम खाते हैं, भर पेट। और हैं।"[7] अपने गुस्से को और धारदार बनाते हुए वह कहता है—"कभी-कभी जी मे आता है—खूब सारे बम लाऊं और इस मुल्क को नेस्तनाबूत कर दूं—जहां पूरा खानदान फिर बेटे की लाश पर जमा होकर उसकी हड्डियां निचोड़ता है...."[8] पर इस सबके बावजूद पिता के मन मे उसकी शादी की सामाजिक अनिवार्यता बरकरार है। उधार लेकर शादी कर भी दी जाती है। नरेश से कुछ भी पूछने की जरूरत नही समझी जाती। मिट्टी के लोंदे की तरह उसे मण्डप मे बिठाकर फेरे करवा दिए जाते हैं। इस बात की कोई जरूरत नही समझी कि वह बीवी को अपने साथ ले जाए। "पिता को डर था कि बीवी पर कब्जा हुआ कि फिर उनकी उधारी नही लौटने की, वह सारा उनके मत्थे पड जाएगा। इसमें पिता-पुत्र का क्या रिश्ता ?"[9] यही पुरानी पीढी की मानसिकता भी सामने आती है। उनके लिए हर जवान लड़की दुश्चरित्र है, औरत को दबाकर रखना, एक दर्जा नीचे रखना आवश्यक है, औरत और कुत्ता एक जात है। पिता की यह सीख नरेश के मन में पत्नी शान्ता के लिए संदेह का एक बीज रोप ही देती है जो वक्त पाकर पनपता रहता है और इस तरह पुरानी पीढी की मान्यताएं इस भूखे प्यासे दम्पति को सहज मिल सकने वाले दाम्पत्य सुख से भी वंचित कर देती है।

कौशल की कथा भी लगभग ऐसी ही है। यों उसमे और हेतु भारद्वाज के 'बनती बिगड़ती लकीरें' के आनन्द मे काफी साम्य है। कौशल ने भी बड़े बाप की बेटी से विवाह किया है और वे लोग उसे सहज भाव से नही अपना सके है। 'ऊंचे लोगों का रिश्तेदार हो जाना—जब तक कि खुद भी आदमी उतना ही ऊंचा न हो किस कदर यन्त्रणादायी होता है, कितना सदा-सर्वदा का एक अपमान, जो फिर भूसी की आग की तरह बुझना नही जानता। बात-बात मे छेक लगते हैं।"[10] बार-बार उसका अहं आहत होता है, बार-बार वह उससे लड़ने को नये हथियार बांधता है, बार-बार टूटता है। आलोचना के नाम से नोट्स लिखना शुरू करता है और उम्मीद करता है कि बड़ा आदमी हो जाएगा। पर तीन-तीन हजार रुपये कमाकर भी स्थिति बदलती नही है। मन की गरीबी अमीरो मे नही बदल पाती है। 'आफ्टर ऑल मै एक कॉलेज लेक्चरर ही तो हूं। चुहिया की खाल आखिर कितनी फूलेगी ? कैसे उसमें से पूरा हाथी पैदा हो सकता है ?[11] और वह कभी भी अपने को पूरी तौर पर अपनी बीवी का पति महसूस नही करा पाती है। बाहर से वह भले ही रौब-दाब का प्रदर्शन करता रहे, दिखावे पर दिखावा करता रहे, और सिगरेट पीए तो वह किंग साइज पीए, औरो के यहां चाय सर्व हो तो उसके यहां कॉफी, और चप्पल पायजामा डालकर दूध-सब्जी लेने जाय तो उसका यह काम दस रुपये माहवार वाला छोकरा करे—पर यह सब भीतरी डर

की पैदावार है। इसके अतिरिक्त इस दिखावटी खुशहाली के नीचे न जाने कितनी असली खुशियों के कंकाल दबे पड़े हैं। किसी भावुकता में बहकर वह अपनी असलियत उजागर कर ही देता है "कौशल एक पिटकर लौटा हुआ फौजी जवान है नरेश, जो अब लोगों को अपनी बहादुरी, अपने जौहर और जीत के झूठे तमगे हिला-हिला कर उनके बीच जी ले जाने की तजबीज किया करता है। फालतू मे लोगों के सामने दुखड़े रोना निहायत घटिया बात है। लोग, लोग है, तुम्हारी तरह के कमजोर अधूरे, जोड़-जुगत से किसी तरह जी ले जा रहे। महाप्रभु तो नही। अपने अन्दर की गरीबी-हां गरीबी उनके सामने खोलना या खुल जाने देना—उससे बेहतर है, कहीं डूब मरो।"[13]

लेकिन इसी कौशल को यह देख भयंकर पीड़ा होती है कि उसका नरेश धीरे-धीरे एक निहायत दुनियादार आदमी मे बदल गया है, उसने युद्ध को खत्म कर दिया है और खुशहाल हो गया है। अब उसका जीना-मरना भी महज लाभ-हानि के लिए बचा रह गया है। उसके जीते रहने का मतलब है दो हजार रुपये महीना।

नरेश और कौशल दोनों की त्रासदी एक ही है। यह परिवेश उन्हे अपने ढंग की जिन्दगी में ही जीने देता है। उन्ही को नही, हम सबको आज सब कुछ औरों के लिए करना पड रहा है। कौशल का प्रश्न हम सबका प्रश्न है—"भ्राता बताओ हमने कौन से सुख चाहे थे। कब हमने कहा था कि हमे खुशियां दो, सल्तनत दो तख्ते-ताऊस दो। फिर क्यों हमारे लिए ये मंजर खड़े कर दिए गए?[13] वास्तव मे ऐसी जिन्दगी बेमानी ही तो है जो नरक हो। जिन्दगी को नरक बनाया है समाज के वर्तमान ढांचे ने जो असमान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है। यह आर्थिक असमानता दिन-ब-दिन बढती ही जा रही है, और इसी के साथ बढता जा रहा है हमारे जीवन का त्रास। इस प्रकार हम टुकडे-टुकडे जिन्दगी जी रहे है, न चाहते हुए भी जी रहे है।

नाटकीय जीवन की अनेक कथाएं यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने भी अपने अनेक उपन्यासों में अंकित की है। राजस्थान के कुख्यात सामन्ती जीवन को 'चन्द्र' ने अपने अनेक उपन्यासों (दीया जला-दीया बुझा, खम्मा अन्नदाता, ठकुरानी, राजा महाराजा, रानी-महारानी, रक्त कथा, जनानी ड्योढी, पत्थर के आंसू, सिंहासन, ढोलन कुजकली आदि) का आधार बनाया है। श्री चन्द्र के सामन्ती जीवन पर आधारित उपन्यासों में कुछ बातें लगभग सामान्य हैं। राजमहलों के दुष्चक्र, सामन्तो द्वारा किए जाने वाले शोषण और अत्याचार के ब्यौरे और किसी एक या एकाधिक पात्रों द्वारा इस शोषण व अत्याचार का प्रतिकार। अपने उपन्यास—'कथा एक नरक की' (1980) में श्री चन्द्र ने समाजवादी समाज के निर्माण के उद्देश्य से सामन्ती इतिहास की क्रूरताओं व भोगविलास के मूल्य पर

तीव्र प्रहार किया है। किले की बड़ारन मोरकी ठकुरानी कुशल कंवर से कहती है—मैं इन बुर्जों वाली चार-दीवारियों के कटु सत्य को जानती हूं। मनुष्य को कीड़ों से बदतर समझने वाले इन लोगों से किसी सही बात और दया की अपेक्षा रखना गलत है...ये पत्थर के लोग हैं। लुगाई बात भी तो पांव की जूती ही नहीं मेन समझते हैं। इनसे कोई सही आशा नहीं रखी जा सकती।'[14] उपन्यास का कथानक मोरकी की इस टिप्पणी को बार-बार सत्यापित ही करता है। ठाकुर ने और फिर उसके साथियों ने बनांग और मुमली की जाति की तीन ग्राम्य कन्याओं से बलात्कार किया और फिर उन्हें तलवारों से कोंच कर घाटी में फेंक दिया। ठाकुर के महलों में इन्सान की जान की कोई कीमत नहीं। किसी का भी जीना मरना ठाकुर साहब की खुशी पर निर्भर है। उनके जीवन में प्रेम नहीं, महज भोग-विलास है—जिसे उन्होंने खरीदा है, पैसे से नहीं, ताकत से। और इसलिए वे महलों की औरतों के वक्षों को दबोचते हैं, सहलाते नहीं। वे केलि-क्रीड़ा नहीं करते, नारी देह पर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ते हैं। पारेल गांव के लोग अगर लगान नहीं दे पाते हैं तो दण्डस्वरूप पूरे गांव को तबाह कर दिया जाता है, एक-एक आदमी को चुन-चुनकर काट डाला जाता है, सारी स्त्रियों को रथों में बेजान सामान की तरह ठूस-ठूसकर भर दिया जाता है और महलों से ले जाकर उनमें से चुनी हुई सुन्दर कुमारियों को निर्वस्त्र कर उनके एक-एक अंग को निरख परख कर देखा जाता है। विलासिता की प्रवृत्ति सामन्तों में ही नहीं है। बाबा जहूरानन्द भी रसीला ठाकुर का इलाज करने की कीमत रति को अपनी अंकशायिनी बनकर वसूल करते हैं। राजा रसीला का जन्म दिन मनाने के लिए दीवान गोरखनाथ राजा को सोने चांदी, हीरे-मोती से तोलने की घोषणा करता है और इस घोषणा का निर्वाह रियासत के सारे ठाकुर व सामन्त अपनी प्रजा पर घोर आतंक से कर वसूल करते हैं। जिन स्त्री पुरुष ने खुशी से धन नहीं दिया, उनके साथ अमानुषिक बर्ताव किया गया। स्त्रियों की इज्जत की परवाह न प्रजा करके उनके गहने उतार लिए गए। किसानों के बैल बेच दिए गए। पांच हरिजनों की बेटियों को पकड़कर गिरवी रख दिया गया। पर राजा रसीलासिंह को सोने, चांदी, हीरे व मोतियों से तोला ही गया। यह धन दान नहीं दिया गया बल्कि उसे रसीला ने अपने निजी खजाने में रख लिया।[15] इन सामन्तों की पारम्परिक दोस्ती, दुश्मनी भी किन्हीं सिद्धांतों या व्यापक आधारों पर नहीं बल्कि तुच्छ हितों पर आधारित है। कामदार मेहता मोतीहरम से भाटी सरदारसिंह ने उसकी रखैल मनोहरी को जबर्दस्ती उठा लिया था। अब, अगर इस हमले में 100-50 लोग मारे भी गए तो उनकी परवाह किसको है?

पर ये अनवरत चलने वाले शोषण अत्याचार ही लोगों में विद्रोह की भावना भी भरते हैं। रम्भा बाबा जहूरानन्द का काम तमाम करती है और नारेल गांव की

बन्दी स्त्रियां रसीला का काम तमाम करने का साहसिक निर्णय ले लेती हैं। बनाग आदि भी इसी कार्य के लिए दृढ़ प्रतीज्ञ होते हैं क्योंकि उनकी सुमली को इन्हीं लोगों ने भयानक मौत मारा था। बनांग की चिल्लाहट—"राजा के बच्चे। तूने समझा था कि तेरे अत्याचार का बदला कौन लेगा? समय आने पर हर गरीब अपना बदला लेता है" एक नये युग और नई व्यवस्था के आगमन का जयघोष प्रतीत होता है। यह बात अलग है कि बनांग का यह विद्रोह न तो हमारे अपने जीवन में दिखाई देता है और न इस उपन्यास के जीवन में। डा०नवलकिशोर ने 'ढोलन कुंजकली' के सन्दर्भ मे जो कहा है, वही यहां भी सत्य लगता है—आदमी को गुलाम रखनेवाली व्यवस्था को मिटा देने का सोच पात्रों की मानसिकता ने नही उपजा है, लेखक का दिया हुआ है।'[16] पर यह लेखक के औपन्यासिक शिल्प की दरार है, जिसके भीतर जाने का यह अवसर नही है। इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि अगर चन्द्र शोषण के यथार्थ और अपने क्रांतिकारी सोच को सही ढंग से मिश्रित कर पाये तो कम लिख कर भी हिन्दी उपन्यास जगत मे अपनी जगह बना सकेंगे।

मणि मधुकर के चर्चित उपन्यास 'पत्तों की बिरादरी' (1979) मे भी लोगों की गाथा प्रस्तुत की गई है। इस गाथा मे पश्चिमी राजस्थान के एक अकाल पीडित सहायता शिविर को केन्द्र बना गरीबों-भुखमरी का शोषण करने वाले सरकारी अधिकारियों, राजनेताओं, सेठ, साहूकारों और समाज सेवकों-सेविकाओ को बेनकाब किया गया है। समाज सेविका पुसपा बाई और इग्यारसीलाल का सम्बन्ध हरलो डाकू से है। नारी देह का शोषण भी यहां है। सुवटी को इग्यारसीलाल की वासनापूर्ति करनी पडती है और पुसपाबाई का भी कैम्प पर इसीलिए राज है कि उसने 'अपने शरीर को बडी चालाकी से भुना लिया है।'[17] मणि ने उन सारे शोषकों को बखूबी अपने इस उपन्यास मे उकेरा है, जो आज हमारी जिन्दगी को तबाह किये दे रहे है। श्रम के शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था इस हद तक निर्मम हो चुकी है कि उसे भूखे के हाथ से बासी रोटी का टुकड़ा छीनते भी शर्म नही आती है और यही व्यवस्था जन्म देती है धुबो जैसे जुझारु लोगों को जो इस दुनिया को बेहतर बनाने के लिए अपने प्राणों तक से खेल जाते हैं। उनका मरना अन्त नही, एक शुरुआत होता है।

बहुत तेजी से उभरे व्यंग्य कथाकार अशोक शुक्ल ने अपने लघु उपन्यास 'सेवा मीटर' में फन्तासी के माध्यम से आज के समाज और विशेषत: उसके राजनीतिक पक्ष का खाका खीचा है। उपन्यास का प्रारम्भ दफ्तरी दुनियां की झलकियों से होता है जहां के बाबू लोग बिना रिश्वत लिये तिनका तक तोड़ने को तैयार नही हैं। पर वे इतना अवश्य समझते हैं कि झगड़ालू और सिद्धान्तवादी लोगों से रिश्वत के लिए उलझना बेकार है। 'बाबू गंगाराम, हर आदमी के अन्दर

एक गांधी छिपा हुआ है। वह पता नही कब, पता नहीं क्यों प्रकट हो जायें, लेकिन जब भी वह प्रकट हो जाए, उससे बहस करना बेकार है।'[19] यों, दफ्तर के लोगों में चालाकी की कमी नहीं है। टालना, फुसलाना उन्हें खूब आता है। गरीबों का शोषण करना उनकी आदत है। तभी तो कथा नायक बुड्ढा कहता है—'मैंने अपने गांव के लोगों को बतियाते सुना है कि दफ्तरों की चाय में आदमियों का खून मिला रहता है। इसीलिये दफ्तर की चाय पीने में मुझे घिन आती है। लेकिन आप पियो साहेब, आपको आदत है। आदत पड़ जाय तो चाय क्या, खालिस खून भी पी सकता है आदमी।'[20] यही हाल अस्पतालों का भी है जहां आदमी को ठीक करने के लिए नियुक्त डाक्टर बिना मरीज की ओर निगाह उठाये ही नुस्खा लिख दिया करते है। कथा में कल्पना की गई है कि एक सेवा मीटर की जो आदमी द्वारा की जा रही सेवा को रिकार्ड करता है। महत्व सेवा का नहीं उसके अंकन का है। हरिजनों की सेवा करने का ढिंढोरा तो खूब पीटा जाता है पर ऐसा कभी नहीं होता कि कोई सेवा करने वाला तरस खाकर खुद मैला ढोने लग जाए। सेवा की भी कई कोटियां हैं—जिला स्तर की, प्रदेश स्तर की और राष्ट्र स्तर की। एक सेवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की भी होती है पर उसके लिए अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य होता है। सेवा मीटर सील करवाने से पहले शपथ लेनी होती है कि सेवा करने वाला विरोधी की हर बात का विरोध करेगा, हिंसा तक कर विरोधी को नेस्तनाबूद करेगा आदि। राजनीतिक दलों में सदा ऐसे लोगों की जरूरत रहती है जो सेवा तो करते रहें पर चुनाव का टिकिट न मांगे। दलों ने ऐसे वर्कशापों की भी व्यवस्था कर ली है जहां कम सेवा करके भी मीटर को धन्नाटे से भगाया जा सके, ऐसे वर्कशापों में सबसे पहले तो वर्कर के अन्दर के गांधी को थपकियां देकर सुलाया जाता है। गांधी जागा और सब गुड़ गोबर हुआ। इन लोगों की नजर में सबसे बड़ी सेवा अपनी सरकार का निर्माण है। मीटर तेज चलाने की भी तकनीक विकसित कर ली गई है। कुछ खास तरीके हैं—सेवा का एहसास कराना, भले ही सेवा बसई न की जाये, खद्दर पहन कर सेवक होने का विज्ञापन करना, विनम्रता का प्रदर्शन करना, त्याग का दिखावा करना, झगड़ा करवाना, कुर्सी पर आसीन होना, विदेश यात्राएं करना, लम्बे तलब भाषण झाड़ना, चन्दा डकारना आदि।

'सेवा मीटर' समकालीन राजनीतिक और समाज के छद्म को बहुत ही कलात्मकता के साथ बेनकाब करता चलता है। उपन्यास के अन्त में बुड्ढे की टिप्पणी हालांकि कुछ ज्यादा ही अभिधात्मक हो गई है पर है बहुत सटीक—"हमारे जैसे लोग कितनी भी सेवा कर लें, मगर मीटर को उतना तेज नहीं दौड़ा सकते, जितना वे लोग दौड़ायेंगे। वे लोग हमेशा आगे"'उन लोगों को पकड़ा नहीं जा सकता। वे पकड़ में ही नहीं आ सकते वे ही सच्चे सेवक माने जायेंगे, अखबारों

में उन्ही की तस्वीरें छपेंगी, किताबों में उन्ही की कहानियां लिखी जायेगी चारण-भाट उन्ही के गीत गायेंगे, इतिहास उन्ही का जय-जयकार करेगा, उन्हे हराया नही जा सकेगा'''उन्हें हराया नही जा सकता, उन्हें भगाया नही जा सकता उन्हे हटाया नही जा सकता'''वे अजेय हैं।'[21]

और अन्त मे मैं चर्चा करना चाहूंगा एक अपेक्षाकृत बहुत कम चर्चित उपन्यास की। राजस्थान के शिक्षा विभाग ने 1978 मे एक अध्यापक मुकारब खान 'आजाद' का उपन्यास 'दो गांव' प्रकाशित किया था। इस सोद्देश्य उपन्यास में गांव में बसने वाले अधिसंख्य भारतीयों के जन-जीवन का चित्रण, रूढ़िवादिता, बेरोजगारी, नौकरी पर निर्भरता आदि समस्याओं पर न केवल प्रकाश डाला गया है अपितु कथा-प्रवाह में ही इन समस्याओं के लिए समुचित समाधान भी सुझाये गये हैं।

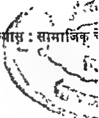
जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है कि, उपन्यास का केन्द्रित चरित्र कोई व्यक्ति न होकर दो गांव हैं। अहमदपुर का निवासी करीमबख्श अपने भाई मीरबख्श की बेईमानी का शिकार होता है। मीर बख्श करीम की जायदाद हड़पने के लिए पीर साहब की मदद लेता है। पीर साहब करीम को उसकी बेटी की शादी मीर बख्श के बेटे हमीद से करने की आज्ञा देता है और धर्मभीरु करीम इस आज्ञा के आगे हथियार भी डाल देता है, पर ऐन वक्त जुबेदा ही 'आत्महत्या' कर सारी योजना पर पानी फेर देती है। कुछ दिनों बाद टूटे हुए करीम को एक लगभग अनाथ युवक सलीम का सहारा मिलता है।'''इस तरह कथा का विस्तार होता है। अनेक झटकेदार मोड़ आते हैं और इसी क्रम में भारतीय ग्रामीण मुस्लिम के जीवन की अनेक विसंगतियां उभरने लगती है। धर्मप्राण लोगों के व्यक्तिगत जीवन में धर्मगुरुओं के नितान्त अनपेक्षित एवं स्वार्थ प्रेरित हस्तक्षेप से प्रारम्भ कर मुस्लिम समाज के अगणित अतार्किक व गलत मान्यताओं का चित्रण करते हुए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को अपनी चिन्ता का केन्द्र बनाया गया है। अपने कथानक के द्वारा वह कृषि निर्भरता और ग्राम संलग्नता का संदेश देता है। इसी के साथ वह अन्ध नगरीकरण व पूजीवादी शोषण की खिलाफत भी करता है। मंदिरो की पूजी का सदुपयोग, ग्रामीण खेलों जैसे कबड्डी आदि का महत्व, उत्पादन मे श्रमिकों की भागीदारी रिटायर्ड व वृद्ध लोगों की सेवाओं का सदुपयोग-इन सारे बिन्दुओं को उसने कुशलतापूर्वक अपनी कथा मे पिरोया है। हिन्दु-मुस्लिम संबंधो की अन्तरंगता की आवश्यकता को रेखांकित करना भी वह नही भूला है। उपन्यास में दो गांव अहमदपुर व ताडपुर क्रमशः प्रतिगामी व प्रगतिशील गाँवों के रूप मे उभारे गये हैं।[22]

प्रान्त के इस दशक के इन कतिपय प्रतिनिधि उपन्यासों की चर्चा के पश्चात मैं अपनी यह स्थापना प्रस्तुत करना चाहता हूं कि आज राजस्थान का उन्यासकार

भी अपने परिवेश के प्रति पूर्ण जागरूकता का परिचय देता हुआ, उसकी तह तक जाकर बारीक चित्रण की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा है। निश्चय ही इस चर्चा मे मैं दशक के सारे या खूब सारे उपन्यासों को नहीं समेट पाया हूं, पर मेरी नजर में ये उपन्यास राजस्थान के समकालीन सृजन में से उत्कृष्ट का प्रतिनिधित्व करते हैं, आज जब हम हिन्दी उपन्यास की बात करते हैं तो स्वाभाविकत: न तो गुलशन नन्दा का जिक्र करना आवश्यक समझते हैं न गुरुदत्त का यहां तक कि शिवानी की भी चर्चा आवश्यक नहीं समझी जाती। कुछ यही बात राजस्थान के लेखन के बारे मे भी है। यहां भी कुछ उपन्यास गैर साहित्यिक कारणों से भी लिखे गये हैं अत. उनमे साहित्यिक मूल्यों की तलाश की भी नहीं जानी चाहिये। इसी प्रकार कुछ लेखक अभी अपनी लेखन दिशा की तलाश मे ही है अत: उन पर उसी संदर्भ मे चर्चा की जानी चाहिये। हां, इस तथ्य को मैं अवश्य रेखांकित करना चाहूंगा कि आज राजस्थान के उपन्यासकार ने प्रकाशन की समस्या भले ही सुलझा ली हो, मूल्यांकन का सकट अब भी उस पर भारी पड रहा है। आज हिन्दी के केन्द्र दिल्ली, बम्बई आदि महानगर बन गए हैं। कभी इलाहाबाद, बनारस आदि हुआ करते थे। केन्द्र से दूर रहने वाले रचनाकारों को भले ही उनका लेखन कितना ही सशक्त क्यो न हो गुमनामी और उपेक्षा का अभिशाप ढोना ही पड़ रहा है। राजस्थान मे रहकर यहां के लेखको ने कुछ प्रथम श्रेणी के उपन्यास लिखे हैं पर उनकी उतनी भी चर्चा नही हुई है जितनी केन्द्र में रहने वाले रचनाकारों के द्वितीय व तृतीय श्रेणी के लेखन की हो जाती है। यह स्थिति बहुत सुखद और आश्वस्तिकारक नही है। अच्छे लेखन के लिए समुचित मूल्यांकन भी एक अनिवार्यता है। इसके अभाव मे लेखन का कुण्ठाग्रस्त हो जाना सहज सभव है। प्रान्त के रचनाकारों व समीक्षकों को इस ओर भी अवश्य ही ध्यान देना चाहिये।

संदर्भ-संकेत

1. डॉ० कुंवरपाल सिंह : हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना : पृ० 21
2. हेतु भारद्वाज : बनती बिगड़ती लकीरें : पृ० 8
3. वही : पृ० 26
4. वही : पृ० 28
5. वही : पृ० 54
6. पानु खोलिया : टूटे हुए सूर्य बिम्ब : पृ० 33
7. वही : पृ० 32
8. वही : पृ० 40
9. वही : पृ० 50
10. वही : पृ० 67
11. वही : पृ० 71



12. वही : पृ० 54
13. वही : पृ० 120
14. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' : कथा एक नरक की : पृ० 17
15. वही : पृ० 121
16. डॉ० नवलकिशोर : राजस्थान में हिन्दी उपन्यास का एक दशक
17. मणि मधुकर : पत्तों की बिरादरी : पृ० 23
18. अशोक शुक्ल : सेवा मोटर सारिका ॥ अगस्त '80 का अंक
19. वही : पृ० 31
20. वही : पृ० 32
21. वही : पृ० 66
22. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल · अकर नवम्बर 79 में प्रकाशित समीक्षा : पृ० 22-23

मणि मधुकर के उपन्यास

राजस्थान की सुदीर्घ कथा परम्परा मे ऐसे नाम बहुत कम हैं जो प्रान्त के बाहर भी अपनी पहचान स्थापित कर पाए हो, आजादी के बाद जो नाम बडे अक्षरों मे उभर पाए उनमें रांगेय राघव, पानू खोलिया, हेतु भारद्वाज, आलमशाह खान, अशोक शुक्ल, रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश और मणि मधुकर प्रमुख है। इनमे से कुछ ने केवल कहानिया लिखी हैं; कुछ के उपन्यास अब तक प्रकाशित नही हुए हैं और कुछ ने सभी विधाओं पर कलम चलाई है, कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, सम्पादक, रंग-कर्मी, लघु फिल्म निर्माता आदि-आदि। मणि मधुकर आजादी के बाद के प्रान्त के महत्त्वपूर्ण रचनाकारो मे से एक हैं, राजस्थान मे जन्मे (1942) मणि मधुकर आजकल दिल्ली मे रहकर, स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं पर उनके औपन्यासिक सृजन का केन्द्र राजस्थान ही रहा है, चार मे से तीन उपन्यासो का घटना-केन्द्र राजस्थान का मरु अंचल है।

अब तो मणि मधुकर साहित्यिक हलचलो के केन्द्र दिल्ली मे रहते ही हैं पर वे चर्चित-स्थापित-प्रतिष्ठित इससे पूर्व ही हो चुके हैं। अतः उनकी रचना सामर्थ्य असंदिग्ध है। यह बात कहना इसलिए आवश्यक लगता है कि राजस्थान का उत्कृष्ट लेखन भी साहित्यिक राजनीति का शिकार बनाया जाकर गुमनामी के अंधेरों मे धीरे-धीरे मर जाने को विवश किया जाता रहा है। हिन्दी जगत की इस उपेक्षा के बावजूद जो उभर सका उसकी प्राणशक्ति निश्चय ही दुरन्त मानी जानी चाहिए, मणि मधुकर को मैं इस दृष्टि से भी उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण मानता हू।

अब तक उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—सफेद मेमने, पत्तों की बिरादरी और पिंजरे में पन्ना। 'सफेद मेमने' के दो सजिल्द तथा एक पाकेट बुक संस्करण निकल चुके हैं और इसे 'प्रेमचंद पुरस्कार' भी मिल चुका है।

सफेद मेमने

अपने प्रथम उपन्यास 'सफेद मेमने' (1971) में मणि मधुकर ने बाड़मेर के नेगिया गांव के कुछ लोगों—अधेड़ पोस्टमास्टर रामऔतार, उसकी युवा पत्नी बन्ना,

जस्सू, रक्खे, पशु चिकित्सक भानमल, सन्दो, सुरजा, भीमा, रणसी, जंतरी आदि की कथा कही है। लेखक के शब्दों मे "अक्सर मुझे लगता है कि रेवड़ की तमाम भेड़ों को छोड़कर अचानक कुछ सफेद मेमने आगे निकल आए हैं। वे अपने मामूली दमखम के बूते पर भाग रहे हैं, लड़खड़ाकर गिर रहे है, लहुलुहान हो रहे हैं, फिर उठकर हांफ रहे हैं और उसी तरह दौड़ रहे है, एक डर उनके भीतर है, एक डर उनके बाहर है। एक अनदेखे कसाई का अदृश्य छुरा उनका पीछा कर रहा है। वे बचना चाहते हैं, इसलिए उस सांस तोड़ भागाभागी के सिवा कोई चारा नही है। "यह उन भगोड़ों की कथा है—और इसे एक भगोडे ने—जो रेत और दूसरी दुनिया के बीच सूखी-निचाट हवा में टंगा हुआ है, उदासी मे लिखा है। (पृ०143)

'सफेद मेमने' एक वचन नही, बहुवचन की कथा है, उपन्यास के पात्र अपने परिवेश को क्रूर, शोषक, उत्पीड़क या पलायन को मजबूर होते हैं। पोस्टमास्टर नौकरी छोड़ कौसानी लौट जाता है, डाक लाने वाला जस्सू नक्सलवादियो के साथ चला जाता है, सुरजा डकैत बन जाता है, बन्ना और सन्दो पाकिस्तान चले जाते हैं...

लेखक ने परिवेश की जड़ता को तोडने के लिए सेक्स का प्रयोग किया है। सातवें दशक की यह प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति रही और 1971 मे प्रकाशित 'सफेद मेमने' पर इस प्रवृत्ति की गहरी छाप हमे अप्रीतिकर भले ही लगे, अस्वाभाविक नही कही जा सकती। अधेड़ पति रामऔतार से असंतुष्ट, युवा बन्ना देह की भूख सन्दो से मिटाती है, जस्सू पर सुरजा का नसा है और पशु डाक्टर भानमल 'नस चढ़ी भैंस' के साथ संभोग करता है। बकौल इन्द्रनाथ मदान, 'इस उपन्यास मे संभोग कभी खुले टीले पर है तो कभी झोपडी में है। 'मरी हुई औरत से संभोग' (एक कविता-शीर्षक) वाले दौर मे यौन-केंद्रित रचनाओं की भीड़ मे एक रचना 'सफेद मेमने' भी है बल्कि उघडी आंचलिक अभिधाओं और भैंस प्रकरण के कारण इस वर्ग में शीर्षस्थ है। यही से मणि राजस्थान के रेगिस्तानी जीवन का व्यावसायिक, साहित्यिक शोषण करने की शुरुआत करते भी दिखाई देते हैं, उनके पात्रों को रोटी से ज्यादा भूख सेक्स की है। यह राजस्थान का नही मणि की कल्पना का रेगिस्तान है जो उनके बाद के उपन्यासों मे भी बार-बार उभरता है।

'सफेद मेमने' से प्रशंसनीय औपन्यासिक संरचना, काव्यात्मक भाषा और अब तक अपरिचित रहे रेगिस्तानी जीवन को सामने लाने वाले कथाकार के रूप में मणि अपनी पहचान बनाने लगते हैं, 'सफेद मेमने' में तत्कालीन समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियां—अकेलापन, संत्रास, ऊब, निरर्थकताबोध, आंचलिकता, सेक्स आदि एक साथ मिल जाती है, आंचलिक रेणु के पास तथाकथित आधुनिक मुहावरा नही था, मणि ने रेगिस्तान का आधुनिकीकरण भी कर दिया, शायद 'बाजार' को यही रास आता है।

पत्तों की बिरादरी

अपने दूसरे उपन्यास 'पत्तो की बिरादरी' (1979) में भी मणि ने कथा का केंद्र रेगिस्तान वासियों को ही बनाया है, उपन्यास का शीर्षक चारण कवि अज्जैदान से लिया गया है—'दरख्त एक ढाणी है, एक गांव है और पत्ते उसके बाशिन्दे होते हैं, साथ बोलते हुए, एक-सा जीवन जीते हुए'''वे एक ही बिरादरी के अनेक लोग। लेकिन ऋतुओं की मार से जब पेड़ उजड़ने लगता है तो पत्ते सूख-सूखकर गिरने और बिखरने लगते हैं, अपने गांव को छोड़कर, दुख दैन्य के बोझ को ढोते हुए ये पत्ते'''जाने कहा-कहां तक रेलों मे बहते-उड़ते चले जाते हैं'''यही है पत्तों की अपनी बिरादरी (पृ० 25) यहा रचनाकार ने उपन्यास के साथ-साथ अपना वक्तव्य देना भी जरूरी समझा है। वह लिखता है, "प्रिय पाठक, आपका और मेरा 'देस' ऐसी कितनी ही अधेरी आबादियों से भरा पड़ा है, जिनमे लोग एक गैर मुल्की जिन्दगी जीने के अपमान-भरे अहसास के साथ स्वयं को ढो रहे हैं, 'पत्तों की बिरादरी' का जन्म इसी तीखे अहसास से हुआ और फिर धीरे-धीरे मैंने पाया कि मेरे बाहर-भीतर का रेगिस्तान फैल रहा है'''इस उपन्यास की दुनिया निरन्तर दुःख झेलने, जूझने और अपनी जड़ो का हक हासिल करने वाले मनुष्य की वह बड़ी दुनिया है, जिसका 'बटवारा' नही हो सकता है जो कही भी अधूरी नही है और यह अपने मे सहेजकर रखा हुआ पूरापन ही उसके अविचलित आत्मनाद का मूल स्रोत है।" (चतुर्थ आवरण पृष्ठ)।

बाड़मेर क्षेत्र के अकाल सहायता कैम्पो मे आ जुटे असहाय पत्तो की इस करुण कथा को इसलिए रचा गया है कि शोषको—सरकारी अफसरो, राजनेताओ, सेठ-साहूकारों और तथाकथित समाज-सेवको के भ्रष्ट आचरण के प्रति सहज-स्वाभाविक आक्रोश मन मे उभर सके, सहायता कैंपो मे जारी शोषण, भ्रष्टाचार और पीड़न की कथा बदरु मिया ज्यानकी, सुवटी, फुलकी, बाभिया और गुवो आदि के माध्यम से कही गई है, शोषक है ये ही जो कैम्प चलाकर 'समाज सेवा' कर रहे है—यानी पुसपाबाई, इग्यारसीलाल और रांवता। इन्हे सहारा है राजनेताओं का और इनका सम्बन्ध है हरलो डाकू से। तस्करी भी करते हैं ये, सहायता का अन्न भी बेचते हैं ये। वेश्या की महत्त्वाकाक्षी पुत्री पुसपाबाई राजनेताओ को खुश कर 'अम्बी' 'एम्मेले' बनने का ख्वाब देखती है। शोषितो का नेतृत्व करता है गुवो, जो पाकिस्तान से भागकर इस कैम्प मे आया है। जुझारू गुवो का जन्म उस निर्मम पूजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया मे है जो श्रम के शोषण पर आधारित है और जिसे भूखे के हाथ से बासी रोटी का टुकड़ा तक झपट लेने मे कोई हिचक नहीं है। गुवो इस क्रूर दुनिया को रगत बदलने के लिए अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करता। उसका मरना एक अन्त नही, एक शुरुआत होता है।

उपन्यास में कैम्प के भ्रष्टाचार के अतिरिक्त मणि का प्रिय विषय नारी देह

तो है ही, शोषण के चित्रण के बहाने सुवटी द्वारा इग्यारसीलाल की वासनापूर्ति और कैम्प पर राज करने के लिए पुसपाबाई की देह का व्यापार भी चित्रित हुआ है, मणि ने यहां देश के विभाजन का ममला भी उठाया है और भारत-पाक युद्ध की ओर भी इंगित किया है, पर मूल कथा दुर्भिक्ष पीड़ितों की है, जिनकी त्रासदी को गहराते हैं अवसरवादी भ्रष्टाचारी।

पिंजरे में पन्ना

पहले 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में 7 जून, 81 से 9 अगस्त, 81 तक धारा-वाहिक 10 किस्तों में प्रकाशित इस उपन्यास की कथाभूमि भी राजस्थान का रेगिस्तान ही है। [illegible] अपने पालक, [illegible] [illegible] की अपनी मां—[illegible] का [illegible] इतिहास [illegible], [illegible] [illegible] राजस्थान की [illegible] है। [illegible] कुएं की [illegible] [illegible]। हर देश में [illegible] [illegible] उसमें [illegible] ही [illegible]। [illegible] सामान उसके सामने [illegible]। [illegible] वैद्य के घर भी पहुंचाता। [illegible] जाने का जहां पन्ना ने [illegible]। नन्दे ने अपने दो दोनों [illegible]। [illegible] परिचय भी मिला।

जाती है। 1962 में एलेक्स हेली भी अपनी जड़ों (वंश परम्परा) की खोज में निकला था। सात पीढ़ियों के पार देखने के लिए उसने तीन महाद्वीपों की खाक छानी, 50 महा पुस्तकालयों, लेखागारों और अनुसन्धानशालाओं को टटोला और तब कहीं 10 वर्षों के सतत परिश्रम से हुई 'रूट्स' की रचना। 'पिंजरे में पन्ना' उपन्यास है, लेखक की अपनी खोज यात्रा नहीं, अतः उसकी 'रूट्स' से तुलना आवश्यक तो नहीं किंतु अनुचित भी नहीं है, क्योंकि दोनों का आधार फलक एक-सा है। 'पिंजरे मे पन्ना' में मणि की चुस्त भाषा, अभिनव अन्दाजे बयां, भरपूर किस्सागोई, रोचक रोमांचक कथा मोड़ और व्यावसायिक सफलता की ओर ले जाने वाले सारे मामले पर्याप्त मात्रा में हैं। ये सब और विशेषतः अन्तिम, 'पिंजरे मे पन्ना' को एक गम्भीर रचना नहीं रहने देते। इसी कारण, मेरी दृष्टि में यह रचना 'रूट्स' के सामने कहीं ठहरती ही नहीं है। रचनाकार ने रम्या की जड़ों की खोज को ज्यादा अहमियत नहीं दी है। नन्दे का तो खैर इस तरह का जिक्र ही अन्तिम किस्त से मध्य में आया है। शायद एक रोचक, झटकेदार सनसनीखेज कथा मोड़ के लिए। रम्या अपनी मां पन्ना के बारे में जानने की उत्सुकता लिए रेगिस्तान की रेत फांकती है, अजीबोगरीब लोगों के सम्पर्क में आती है, पर पूरे उपन्यास की अन्तिम तीन किस्तों में ही और विशेषतः अन्तिम किस्त में ही लेखक ने पन्ना की चर्चा की है। इस प्रकार कथा असन्तुलित हो जाती है। अन्त में ही यह पता चलता है कि चेतराव ही रम्या का असली पिता है—पन्ना का जाट प्रेमी। वहीं यह चर्चा भी है कि पन्ना की हवेली में ठाकुर रिछपाल और उसके लोगों ने आग लगा दी थी। आग लगाने वाले आज ढाणियों के पंच, पटेल और मुखिया बने हुए हैं। जिन लोगों ने आग बुझाने की कोशिश की, उनके हाथ-पैर तोड़ दिए गए, कान काट लिए गए। रिछपाल के बहाने समकालीन भ्रष्ट राजनीति को भी बेनकाब किया गया है। रिछपाल को पैसों और शराब से वोट खरीदता बताया गया है। अपनी कथा को बहुत सारी दिशाओं में मोड़कर एक तो रचनाकार ने उसकी गम्भीरता को कम किया है और दूसरे एक महत्वपूर्ण मुद्दे—अपनी जड़ों की खोज को बड़े चलताऊ ढंग से निपटाया है। यदि वह अन्य बातों पर कम जोर देकर केवल इसी मुद्दे पर कथा को केन्द्रित करता तो 'पिंजरे में पन्ना' एक अधिक सार्थक रचना बन पाती।

फिर, यहां भी मणि रेगिस्तानी यथार्थ के नाम पर रेगिस्तान की चटपटी इमेज देने वाले सेक्स का प्रयोग करने से बाज नहीं आए हैं। दीवो के लेपा (उबटन) लगाने के प्रसंग में दीवो के एकालाप में तथा पन्ना के संवादों में 'कथा की मांग' के बहाने से नग्न चित्रण करने का अवसर जुटा लिया गया है। उपन्यास की एक और कमजोरी सूमर-संदीप प्रसंग है जो अनावश्यक रूप से एक अध्याय में उभर कर वहीं दब जाता है। पूरी कथा से उसकी कोई संगति नहीं बैठ पाती।

पाक्षिकी—'सारिका' (16 जून, 1981 मे पहले-पहले प्रकाशित। इस उपन्यास में मणि मधुकर राजस्थान के रेगिस्तानी अंचल से दूर हटे हैं। लेखक, जो उपन्यास का नरेटर भी है, के जीवन में 6 स्त्रियां आती हैं पर एक दिन हैदराबाद के तैलगी औरतों के बाडे में औरतों की भीषण दुरवस्था देखकर और पेट की आग से त्रस्त अधेड़ औरत का वेशर्म समर्पण—"मुझे ले चलो, देखो मैं जवान हू। मैंने चार रोज से कुछ नही खाया। मै तुम्हे खुश रखूगी। जरा इधर हाथ लगाओ, कैसी फुल्ली-फुल्ली है मेरी छातियां···" सुनकर उसकी प्रतिक्रिया होती है—"ये है मेरी स्त्रिया···इस दशा में। और मैं कहो और ढूढ़ रहा था···" उसकी मुट्ठियां बध गईं।

लेखक के जीवन में आने वाली छह स्त्रियां हैं—मकान मालिक मोरचंद की औरत गुनवंती, ऐयाश जीनत, अध्यापिका अन्ना, अन्ना के बेटे चीनू की मित्र नीरा, दीवान बुक कॉर्नर की सेल्सगर्ल नीलम्मा, जिसका एक और व्यक्तित्व भी है और एक अछूत-जमना।

उपन्यास का उत्तरार्द्ध और महत्त्वपूर्ण अंश नीलम्मा पर केन्द्रित है, वस्तुतः गुनवती, जीनत, अन्ना, नीरा और जमना की सार्थकता इतनी ही है कि वे उपन्यास के बहुवचनात्मक शीर्षक को पुष्ट करती है। यह भी माना जा सकता है कि निरर्थक जिंदगी जीने वाली ये स्त्रियां नीलम्मा की सार्थक जिंदगी को उभारती है। जमना के प्रसंग मे एक उल्लेखनीय बात यह आती है कि उस अछूत (मादिगा जात) की बेटी पढ़-लिखकर आरक्षण का सहारा पा आई० ए० एस० हो जाती है और फिर वह मां का जिक्र तक नापसन्द करने लग जाती है। बकौल लेखक—"वह उस वर्ग मे भर्ती हो गई है जिसके पास सिर्फ नीचता और सड़ांध है।" (पृ० 65)

नीलम्मा के लिए लेखक की टिप्पणी है—"कही कोई ऐसी स्त्री है जो बहुत सुन्दर है···एक अद्भुत सौदर्य, साहस का···समझ का और अब मैं तुम्हें देख रहा हू। पहले मैं सिर्फ सोचा करता था और आह भरता था। किन्तु आज···मेरा आश्चर्य ही सबसे अधिक विश्वसनीय है।" (पृ० 65) नीलम्मा एक क्रांतिकारी लड़की है जो हैदराबाद के शोषकों से लोहा ले रही है। उसके जीवन-साथी (विवाहित पति नही) पर नक्सली होने का इल्जाम लगाया गया था, यह सूचना देकर लेखक ने अप्रत्यक्षत नीलम्मा की विचारधारा की ओर इंगित किया है। बुक कॉर्नर के मालिक से वह यह कहलवाना भी नही भूला है—"अपनी विचार-धारा के लिए उसने कष्ट झेले हैं। कोई उससे असहमत हो सकता है, किन्तु उसकी समर्पण भावना और निष्ठा देखकर श्रद्धा पैदा होती है।" (पृ० 53)। कही यह असहमति स्वयं लेखक की ही तो नही है? पर वह नीलम्मा से जुड़ता है, उसके साथ उन ठिकानों पर भी जाता है जहां उसके हम-विचार लोग काम

कर रहे हैं। लेखक ने पाया कि तमाम दबे-कुचले लोगों के पास वह अभिमान एक अकूत खजाने की तरह था। प्रायः बाहर उसकी दीप्ति नजर नहीं आती थी, क्योंकि उन्होंने उसे अपने अंतःकक्ष में संभालकर रख छोड़ा था। (पृ० 61) लेकिन नीलम्मा की विचारधारा और उसके प्रयत्नों को लेखक ने बड़े चलताऊ ढंग से निपटाया है, या तो उसकी दृष्टि क्रांति के रूमानीपन को भेदकर तह तक नहीं पहुंच पाती है या उसे भय रहता है कि उपन्यास मनोरंजक न रहकर बोझिल हो जाएगा, और या सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन जैसी किसी चीज में उसकी आस्था नहीं है, क्रांति उसके लिए महज बॉक्स आफिस का एक फार्मूला है। नीलम्मा की क्रांति को उसने भले ही गंभीरता से चित्रित न किया हो, अपनी स्त्रियों के यौन जीवन का चित्रण करने में उसने कंजूसी नहीं बरती है। यौन एक ऐसा क्षेत्र है जहां मणि की कलम जरा ज्यादा ही खुलकर चलने लगती है। यहां तो उसने नीरा के संवादों (पृ० 35) में यौन-क्रांति जैसे चालू मुहावरे को भी खींच लिया है। लेकिन गंभीरता से न नीरा की यौन-क्रांति को लिया गया है न नीलम्मा की सामाजिक राजनैतिक क्रांति को।

यही वह एक बात है जो मुझे मणि के लेखन से सर्वाधिक असंतुष्ट करती है। वे परिवर्तन के लिए क्रांति का परचम उठाते प्रतीत तो होते हैं पर उसमें उनकी अपनी आस्था कहीं नहीं झलकती। इस प्रकार परिवर्तन-कामिता भी उनकी जीवन दृष्टि न रहकर सफल लेखन का एक तत्व मात्र बनकर रह जाती है। उनके चारों उपन्यासों में यह परिवर्तन-कामिता समान हल्के-फुल्के ढंग से मौजूद है। 'सफेद-मेमने' का जस्सू नक्सलवादियों के साथ चला जाता है, 'पत्तों की बिरादरी' का गुबीशोषण का प्रतिकार करता है, 'पिंजरे में पन्ना' में समकालीन भ्रष्ट राजनीति के प्रतीक रिछपाल का विरोध है और 'मेरी स्त्रियां' में नीलम्मा क्रांति-कारिणी है। इनमें से एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिसे लेखक ने अपेक्षित विस्तार और निजी सहानुभूति प्रदान की हो। लेखक ने सर्वत्र क्रांति या परिवर्तनाकांक्षा को यौन के बरक्स रखा है। यों भी मणि के पात्रों की इसमें विशेष रुचि है। 'जिनावर स्याव' भानमल तो भैंस से सम्भोग कर हिन्दी का अपनी तरह का अकेला चरित्र होने का 'गौरव' प्राप्त करता ही है, बन्ना, सुरजा, सुवटी, पुसपाबाई, दीवी, नीरा,—सभी के जीवन के इस पक्ष पर लेखक ने तेज प्रकाश डाला है। मणि की अधिकतर स्त्रियां एक ही भाषा बोलती हैं। 'सफेद-मेमने' की सुरजा हो—"मैं जाट की जाई हूं सबसे मुझमें सामरत्थ है, दस मरद एक छंट झेल सकती हूं'''तुम भी नसें ढीली करने आए थे? करना चाहो तो कर लो। मुझे कोई ओर नहीं आएगा।" (पृ० 55) या 'मेरी स्त्रियां' की नीरा "मैं अपने को भ्रष्ट कर डालूंगी। मैं अपनी देह को फाड़कर चिन्दी-चिन्दी कर दूंगी, तब माई फादर'''एण्ड युअर हसबैंड, मुझे देखेंगे और सिर पीट लेंगे।" (पृ० 35)

किसी पाठक के लिए अपने लेखक से शिकायत का मुद्दा यह नही होना चाहिए कि उसने अपनी किसी रचना में क्रांति को गैर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से क्यों चित्रित किया है या सेक्स में ज्यादा रुचि क्यो ली है? पर यदि लेखक की सभी रचनाओं में ऐसा हो तो बात अलहदा हो जाती है। मणि के उपयुक्त चारों उपन्यासों का ट्रेण्ड बिलकुल एक है और इसी से उनकी विचारधारा (अगर उसे यह नाम देना अनुचित न हो) हमारी पकड़ मे आ जाती है। उनके लिए क्रांति और यौन क्रांति एकदम एकार्थक हैं। उनका अपना पक्ष इनमें से कोई भी नही है। एक कुशल-सफल व्यवसायी की भांति उन्होंने अपनी दुकान में हर बिकने वाली चीज सजाई है। क्रांति की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें तो यह बात पर्याप्त विवादास्पद है कि रेगिस्तान का जीवन ठीक वैसा ही है जैसा मणि ने चित्रित किया है। यह बात इसलिए भी उठानी आवश्यक है कि उनके चार में से तीन उपन्यासों का घटनास्थल राजस्थान का रेगिस्तान है। अम्मल, दारु, ऊंट, घाघरा और रूंख उनके तीनों रेगिस्तानो में हैं, होने ही चाहिए थे। लेकिन रेगिस्तान की स्त्रियां शहरी यौन-नैतिकता-शुचिता से अछूती होने के बावजूद, इतनी 'उदार' भी नही हैं जितनी मणि ने उन्हे बताया है। यों भी मणि की रेगिस्तानी और गैर-रेगिस्तानी स्त्रियां एक ही सांचे में ढली लगती हैं। मणि को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने रेगिस्तान को अपने उपन्यासों का केन्द्र बनाया। यह न कहना भी उनके प्रति अन्याय होगा कि उन्होने एक लगभग अछूती कथा-भूमि चुनी है, इसी पृष्ठभूमि पर रचित यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के उपन्यास कलात्मकता की दृष्टि से मणि से पीछे है। लेकिन इसी क्रम मे यह कहना भी आवश्यक है कि अपनी कलात्मक अपरिपक्वता के बावजूद मोहरसिंह यादव का 'बंजर धरती' लेखकीय ईमानदारी की दृष्टि से मणि के तीनों उपन्यासों पर भारी पड़ता है। मणि का प्रयास रेगिस्तान की प्रामाणिक तस्वीर उकेरने की बजाय एक बिकाऊ तस्वीर उकेरने का रहा है। यही बात क्रांति के बारे में भी। अगर वे इसका गंभीरता से विरोध भी करते तो मुझे आपत्ति नही होती, लेकिन मणि मधुकर भी जब क्रांति को लेकर मनोज कुमार बन जाते हैं तो मुझे अच्छा नही लगता।

मणि मधुकर के उपन्यासों की एक और रूढ़ि है—कविता। चारों उपन्यासों मे कविताओं के पर्याप्त उदाहरण हैं। बतर्ज 'नदी के द्वीप', 'सफेद मेमने' में गोगाजी की काव्य कथा, 'पत्तों की बिरादरी' में चारण कवि अज्जैदान का काव्य, 'पिंजरे में पन्ना' में मायकोव्स्की आदि और 'मेरी स्त्रियां' में सुकांत भट्टाचार्य। मणि स्वयं कवि हैं और उनकी औपन्यासिक भाषा में भी काव्यात्मक हस्तक्षेप कम नहीं है, अतः ये कविताएं उपन्यास की संरचना पर आरोपित और भारी पड़ती लगती हैं। 'पत्तों की बिरादरी' में अज्जैदान तो जैसे-तैसे खप जाता है पर

अन्यत्र सभी कवि अनावश्यक घुसपैठ करते लगते हैं।

इस अनावश्यक काव्यात्मक हस्तक्षेप के बावजूद, मणि के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति उनकी भाषा ही है, सजीव, धारदार और दिल में गहरे उतरती-सी भाषा। सच तो यह है कि मणि की भाषा कुछ इस तरह अपने पाठक को हिप्नोटाइज कर लेती है कि दूसरी बातों पर ध्यान जा ही नहीं पाता है। मणि प्रमुखतः आंचलिक कथाकार हैं और अपने अंचल की शब्दावली पर उनका पूरा-पूरा अधिकार है। ठेठ आंचलिक शब्द वे किसी कुशल सुनार की मानिन्द अपने चमकदार गद्य के बीच जड़ते चलते हैं। 'सफ़ेद मेमने' में 'शब्दों का गोरखधन्द बुनने लगा' ऐसा ही एक मोहक प्रयोग है। अपने पात्रों की भाषा को ज्यों का त्यों पकड़ने के मामले में वे रेणु से आगे निकलते हुए अमृतलाल नागर के समकक्ष ठहरते हैं। लेखकीय वर्णनों में से अपने कवि होने का पूरा-पूरा फायदा उठाते हुए हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समकालीन गद्य की बानगियां पर बानगियां जुटाते चलते हैं। 'पत्तों की बिरादरी' की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं—"तम्बुओं के तिरपाल फड़फड़ाती हुई हवा बेचैनी से घुमेरी लगा रही थी। उसके संग-संग रेत। अंधेरे और सुन्न-गुन्न सन्नाटे में जैसे कोई सड़-सड़ाक सोटियां बरसा रहा हो, ऐसी आवाज़। आड़े-तिरछे टीबों और बिरछों में उलझी हुई रात की रहस्यमयी आकृतियां उस आवाज से अस्त-व्यस्त हो उठती थीं।" (पृ० 9) या 'मेरी स्त्रियां' की ये अन्तिम पंक्तियां—"नीलम्मा उसके सामने बैठी थी। सौन्दर्य के ज़ख्मों को समेटे हुए। धीरे-धीरे ये ज़ख्म एक मानचित्र में तबदील होने लगे। वह मानचित्र एक बहुत बड़े देस-जहान का था। और उस देस-जहान का नाम वेंकटप्पा था।" (पृ० 66)

मणि की भाषिक सामर्थ्य के और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर असल बात यह है कि एक बेहद जीवन्त, समर्थ भाषा का धनी, जागरूक, संवेदनशील, समर्थ रचनाकार अपने इन औजारों का कोई अर्थपूर्ण उपयोग अब तक नहीं कर पाया है। वह बजाय पक्षधर होने के, संतुलन बनाये रखने के निरर्थक कार्य में अपनी शक्ति खपा रहा है। मणि के अब तक के उपन्यास व्यावसायिक और साहित्यिक, निरर्थक और सार्थक के बीच स्थित हैं। सफलता का स्वाद चख लेने के बाद, अब अगर वे अपनी कलम से कोई सार्थक कृति रचें तो मुझ जैसे अनेक पाठकों को प्रसन्नता होगी।

दुनिया को बदलने की कोशिश में जुटा एक कथाकार : रमेश उपाध्याय

मधुमती की कृतिकार प्रस्तुति योजना के प्रथम आलेख : फरवरी' 82 : में मैंने लिखा था कि राजस्थान के जो बहुत थोड़े कथाकार प्रान्त से बाहर भी अपनी पहचान बना पाये है, उनमे रमेश उपाध्याय भी एक है। बीच के लगभग चार सालों ने रमेश की पहचान को बढ़ाया ही है। आज वे हिन्दी के जनवादी कथाकारों मे विशिष्ट स्थान के हकदार बन चुके हैं। 'कथन' के सम्पादक के रूप में उनको जैसी ख्याति मिली, वैसी ख्याति हिन्दी में बहुत अधिक सम्पादकों को नहीं मिली है। अपने लगभग दो दशकों के रचना काल मे रमेश उपाध्याय कई मंजिलों से गुजरे है। इस आलेख मे मैं उनकी सृजन-यात्रा का परिचय देता हुआ उनके लेखन की समग्र तस्वीर प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास कर रहा हू।

1942 मे जन्मे रमेश उपाध्याय की प्रथम प्रकाशित रचना उनका उपन्यास 'चक्रबद्ध' है। 'लहर' मे धारावाहिक प्रकाशन के पश्चात् सन 1967 मे यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उपन्यास की भूमिका में गोलमोल (कलात्मक ?) शब्दावली में वैज्ञानिक से ऊपर दार्शनिक और उससे भी ऊपर कलाकार को स्थापित किया गया है और यही 'कलाकारपन' रचना के पन्नों से भी बार-बार झांकता है। "होठो का किशमिशी रंग सांसों की आंच मे उबल रहा है" और "भीगी हुई रातों का बेहद-बेहद उमस भरा मौसम" जैसे धर्मवीर भारतीय वाक्य पूरे उपन्यास मे बिखरे पड़े हैं। 'अशफाक मंजिल' नामक एक इमारत है जहां रमन उर्फ रहमान रहता है जो सेक्स से आब्सेस्ड है, सुमन और कुमुद से तो प्रेम करता ही है, मंजिल की मालकिन अंजुम आपा से भी दैहिक सम्बन्ध रखता है। 'अशफाक मंजिल क्या है, तमाम भागे हुए लोगों—साबिरा, विजय, सध्या बनर्जी, अंजुम, रमन आदि की शरण-गाह है। लगभग सारे ही चरित्र गुड्डी-गुड्डी हैं, लेखक का नजरिया निहायत भावुकतापूर्ण है, भाषा, जैसा मैंने पहले ही कहा, चाशनी में पगी हुई है, खुले यौन चित्र हैं और है मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रति एक संदेहपूर्ण दृष्टि (पृष्ठ 122-23)। लेकिन यह उपन्यास किस्सागोई और शिल्प पर रमेश के अधिकार का अच्छा परिचय जरूर करा देता है।

रमेश का दूसरा उपन्यास है 1970 मे प्रकाशित 'दण्डद्वीप'। पुस्तकाकार प्रकाशन से पूर्व यह उपन्यास 'धर्मयुग' में धारावाहिक छप चुका था। यह उपन्यास वस्तुत: 'चक्रव्यूह' की कथा को ही आगे बढाता है। वहां रमन उर्फ रहमान अपने जीवन-यापन के लिए जो एक विकल्प सोचता है वह यहां क्रियारूप मे परिणत कर लिया गया है। उपन्यास की पहली ही पंक्ति है—"तेरह साल का लड़का और ताले-चाबियों का मिस्त्री।" हां, उपन्यास का नायक, नरेटर, राजू ताले-चाबियो का मिस्त्री है। 'दण्डद्वीप' आर्थिक दुष्चक्र मे पिसते हुए राजू की व्यथा-कथा है। घर पर कर्ज था इसलिए भाई ने बैंक मे गबन किया, सस्पैंड हो गये, जेल गए। अब घर चलाने के लिए राजू को नौकरियां करनी पड़ती हैं। हर नौकरी मे उसका शोषण ही होता है। भ्रष्ट पेशकार और उसकी बीबी राजू से दुर्व्यवहार करते है, काम करवा कर भी बिना पैसे दिये नौकरी से निकाल देते हैं। ज्ञान मामा के मेरठ वाले घर के पडौसियों की लड़की मनीषा राजू के जीवन मे बदलाव लाती है। वही उसे पढ़ने की प्रेरणा देती है। प्रेरणा धीरे-धीरे प्रेम का रूप भी ले लेती है। राजू मनीषा से प्यार करने लगता है। हालांकि इसमे मनीषा उसे जो सहयोग देती है उसे वह एक एक्सपरिमेंट कहती है। परन्तु राजू के ज्ञान मामा उससे साफ-साफ पूछ लेते हैं कि मनीषा के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, और राजू के पास उतना ही साफ कोई उत्तर नही होता। रमेश 'चक्रव्यूह' और 'दण्डद्वीप' दोनों ही उपन्यासों मे नये सम्बन्धो की तलाश, एक नयी नैतिकता को आकार देने को उत्सुक नजर आते हैं। 'दण्डद्वीप' मे राजू के सोच के बहाने (पृष्ठ 162-63) और 'चक्रव्यूह' में अंजुम आपा के एक कथन को याद करके (पृष्ठ 152) संबंधों के बने बनाये ढांचो को तोड़ नये, अब तक अनाम रिश्तों के स्वीकार की बात कही गई है। लगता है, उम्र के उस दौर मे रमेश इस मुद्दे पर काफी सोच रहे थे। इन दोनों ही उपन्यासों में आर्थिक दुष्चक्रों मे पिसते हुए किशोरों को समाज की पारम्परिक नैतिक दृष्टि से टकराते दिखाया गया है। यह बात मैं जोर देकर इसलिए कह रहा हूं कि बाद मे रमेश स्त्री-पुरुष संबंधों की चिन्ता से दूर हटते गये हैं। उनकी चिन्ता का केन्द्र समाज के आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक सम्बन्ध हो गये हैं।

रमेश के सोच का बदलाव, या यों कहूं कि बदलता हुआ झुकाव-संतुलन उनके तीसरे और अब तक अंतिम उपन्यास 'स्वप्नजीवी' (1971) मे देखा जा सकता है। यह एक फैंटेसी-परक उपन्यास है और प्रारम्भ मे लगभग 9 पृष्ठो मे कुशल किस्सागो रमेश ने यह बताया है कि 'स्वप्नजीवी' जिन शिवेन्द्र सान्याल के स्वप्नों का सग्रह है वे कौन हैं। ये स्वप्न कविता, कहानी, डायरी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, टिप्पणियों, निजी अभिव्यक्तियों आदि के मिले-जुले उत्पाद हैं और उनके प्रस्तुतीकरण मे सायास पैदा की गई अस्तव्यस्तता है। स्वप्न अस्त-

व्यस्त ही तो होते हैं। यह उपन्यास उस दौर की रचना है जब नव-प्राप्त स्वाधीनता से भारतीय बुद्धिजीवियों का तीव्र मोहभंग हो चुका था और एक टूटन, हताशा, निराशा नस-नस में भर चुकी थी। उपन्यास मे व्यंग्य का स्वर बहुत प्रखर है। उदाहरणार्थ यह अंश लें—"मिश्राजी से कहूंगा कि मेरे पैरों की खोज कराई जाए और एक जांच-समिति बिठाई जाए जो अपनी रिपोर्ट मे लिखे कि मेरे पांवो के खो जाने के कारण क्या-क्या थे। फिर एक जांच-आयोग नियुक्त किया जाए जो देश के अन्य भागों में इस प्रकार पांव खो जाने की सारी घटनाओं पर विचार करे और कोई सर्व-सम्मत समाधान खोजे···" 'स्वप्नजीवी' कुल मिलाकर लगभग उसी काल की अनेक कविताओं—पटकथा, मोचीराम, मुक्तिप्रसग, लुकमान अली, कुछ हो रहा है आदि की याद दिलाता है। रमेश कलावादी शिल्पवादी खेमे के रचनाकार कभी भी नही रहे। अगर रहे होते तो उनके समर्थक-प्रशसक ज़रूर इस उपन्यास के शिल्प-कौशल की प्रशंसा मे पन्नों पर पन्ने भर डालते। लेकिन एक जनवादी कथाकार के रूप मे जब मैं उन्हे परखना चाहता हूं तो मुझे लगता है कि यह उपन्यास शिल्प की गति मे भटकाव से अधिक कुछ नही है। यहां इतना अवश्य है कि रमेश की दृष्टि साफ हुई है, उन्होंने अपनी प्राथमिकताओं को पहचान लिया है, किशोर भावुकता से पल्ला झटक लिया है और अपने परिवेश के प्रति अधिक सजग हो गए है। बस !

वैसे शिल्प से खिलवाड़ के प्रयास उनके प्रथम कहानी-संकलन **'जमी हुई झील'** (1969) की कुछ कहानियो में भी दिखाई देते है। संकलन की प्रथम सात कहानियां हैं भी 'प्रयोग' उप-शीर्षक के ही अन्तर्गत। वैसे, वहीं उन्होने कह भी दिया है—"प्रयोग प्रायः अपने लिए होता है और सहज रूप से लिखी हुई कहानी दूसरो के लिए।" फिर भी ये कहानियां हैं। शेष सात कहानियां 'प्रतिश्रुति' के अन्तर्गत हैं और उन्ही के लिए मुझे रमेश की यह टिप्पणी ज्यादा उपयुक्त लगती है—"वर्तमान भारतीय परिवेश मुझे अपनी इसी तरह की जमी हुई झील जैसा लगता है और मैं इसे देखकर पागल होना नही चाहता हू, झील को गालिया देना भी नही चाहता हूं, उसकी उपेक्षा करना भी नही और सिर झुकाकर इस जमाव-ठहराव को स्वीकार लेना भी नही। और मुझे यह भी मालूम है कि कलम के अलावा मेरे पास कोई और औजार भी नही है जिससे मैं झील की इस चिकनी और सख्त सतह को तोड़ सकू, लेकिन अपने कर्म के प्रति पूरी तरह प्रतिश्रुत हूं कि मुझे इस सतह को तोड़ना है और तोड़कर जल निकालना है—वह जल जो डुबाता ज़रूर है लेकिन जीवन भी देता है।" 'प्रतिश्रुति' खंड की कहानियों मे रमेश प्रगतिशील राह पर चलने वाले कथाकार नज़र आने लगते है। 'तांत्रिक' मे वे तन्त्र के खोखलेपन को उजागर करते है तो 'एक मछली और' मे राधेश्याम के सपनों की टूटन को सामने लाते है। वह तो एक ऐसी मछली बनकर रह गया है जिसे तड़पते देखने

में ही लोगों को सुख मिलता है। इस खण्ड की सबसे महत्त्वपूर्ण कहानी है 'जुलूस'। यह मानवीय पक्ष की कथा है। एक ऐसी बात के लिए विशाल जुलूस निकाला जाता है जिससे जुलूस में चलने वालों का कोई सरोकार नहीं है। लेकिन जुलूस उसमें शामिल लोगों के हितों के लिए नहीं, संयोजक जी के फायदे के लिए निकाला गया है। कहानी बड़ी बारीकी से जुलूस के संयोजक जी की विशिष्टता और शेष जुलूसियों की अविशिष्टता को उजागर करती चलती है। लेखक की पक्षधरता स्पष्ट है।

अगर रचनाओं के प्रकाशन-वर्ष को आधार माना जाए तो रमेश की रचनाएं दो हिस्सों में बंटी मिलती हैं। अब तक चर्चा की गई चारों पुस्तकें—तीन उपन्यास और एक कहानी-सकलन 67 से 71 तक के हैं। इसके दस साल बाद यानी 81 में एक साथ तीन कथा-संकलन और एक कथा-संकलन 84 में, इन दो काल-खण्डों को जोड़ते हैं दो कहानी-संकलन--'शेष इतिहास' (1973) और 'नदी के साथ' (1976)। लेकिन अपने तेवर में ये है बाद वाले काल-खण्ड के ही साथ। 'शेष इतिहास' की कहानियों के लिए मोहन श्रोत्रिय व स्वयं प्रकाश ने 'क्यों' में लिखा था—"ये कहानियां कथाकार के दृष्टिकोण में आये प्रगतिशील बदलाव की सूचना देती हैं। इनका नायक दुखी, कमजोर, असहाय, कातर, अकर्मण्य और दिग्भ्रमित नहीं है। वह साहसी व्यक्ति है जो मुसीबतों से घिरकर भी संघर्ष की बात सोचता है, साहसिक निर्णय लेता है और परिस्थितियां जिसे तोड़ नहीं पाती। इन कहानियों में आदमी की पीड़ा व टूटन की ही नहीं, उसकी युग-निर्मात्री शक्ति की भी झलक मिलती है। ये कहानियां पाठक को कमजोर नहीं करती, उसे तिलमिलाती हैं, प्रेरणा देती हैं, रास्ता बताती है और निर्णायक फैसलों तक पहुंचने को आमादा करती हैं।" 'शेष इतिहास' संकलन मुझे नहीं मिल पाया, परन्तु 'नदी के साथ' की कहानियां भी इस टिप्पणी के अनुकूल ही हैं। लेकिन इतिहास के बाद नदी तक आते-आते रमेश अपनी कहानियों में जीवन के 'बड़े' और सैद्धान्तिक सवालों से ज्यादा जूझने लगते हैं। यह अलग बात है कि ये बड़े सवाल ही तो छोटे सवालों का रूप निर्धारित करते हैं। परन्तु अब कहानियां जिन्दगी से दूर और किताबों के नजदीक होने लगती हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि इस संकलन की अनेक कहानियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कम्युनिस्ट पात्र आये हैं। 'अपने बीच' में एक तथाकथित कम्युनिस्ट, 'आगे बढ़ने लोग' में मदन, 'बुलडोजरवाला' में नरेटर, 'देवीसिंह कौन' में देवीसिंह आदि। 'घुमाव' एक पारिवारिक-सी लगने वाली कहानी है परन्तु अनेक स्थलों पर वह राजनीतिक भी हो जाती है। लेक्चरर शर्माजी अपनी पत्नी को छोड़ एक मॉड लड़की मंजुश्री के साथ रहना चाहते हैं, रहने लगते हैं। इस प्रसंग में शर्माजी के मित्र नरेन्द्र के अनेक कथन राजनैतिक अभिप्राय लिए हुए लगते हैं। वैसे, शर्मा जी की

निजी जिन्दगी के इस प्रसंग का भी एक व्यापक राजनैतिक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। हमारा देश भी तो विदेशी तकनीक आदि के सन्दर्भ में यही कर रहा है। इस संकलन की दो बहुत महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं 'देवीसिंह कौन' तथा 'बुलडोजरवाला'। देवीसिंह मजदूर यूनियन का एक सक्रिय कार्यकर्ता है। कहानी है एक मिल और उसके भीतर चल रहे मजदूर आन्दोलन की। देवीसिंह समर्पित वामपंथी कार्यकर्ता है और पढ़ा-लिखा न होते हुए भी मालिकों की हर चाल को समझता तथा बेकार करता चलता है। अत मे जब मालिक लोग उसे मरवा डालना चाहते हैं तो मारने वाले को एक नही अनेक देवीसिंह नजर आते हैं और वह सोचता है कि इनमें से किसको मारूं, असली देवीसिंह है कौन? एक से अनेक हो जाने की यह प्रतीकात्मकता कहानी की जान है। शेष तो मजदूर आन्दोलनो की प्राय: दुहराई गई बातें ही हैं। 'बुलडोजरवाला' कहानी आद्यंत व्याप्त सूक्ष्म सांकेतिकता और काव्यमयी भाषा की वजह से भी अविस्मरणीय बन गई है। एक उदाहरण—"यह सही है कि मेरे पास मकान छोटा है और वहा चलने से तुम्हारी समस्या हल नही हो जाएगी, फिर भी बच्चो को परेशान करने से क्या फायदा है? बरसात के दिन हैं और जल्दी ही ठंड पडने लगेगी।" बुलडोजरवाला वह व्यक्ति है जो गरीबों की बस्ती उजाड़ने आया है। यह वही व्यक्ति है जो कभी सम्पूर्ण क्रान्ति के जुलूस की जीप चलाया करता था। कहानीकार ने अन्त मे अपना अभिप्राय एकदम साफ कर दिया है—"ड्राइवर? जी हां, वह ड्राइवर यही रहता है। लेकिन अजीब चीज है साहब यह ड्राइवर। कभी वह किसी उद्योगपति की कार चलाता हुआ मिलता है तो कभी किसी संसद-सदस्य की। कभी रामलीला की झांकियो वाली जीप चलाता हुआ मिलता है, तो कभी अखबार ढोने वाली मोटर, और कभी स्कूल के बच्चों की बस। एक बार वह किसी स्मगलर का ट्रक चलाते हुए पकडे जाने पर फरार हो गया था, लेकिन कुछ ही दिनों बाद मैंने उसे एक विदेशी दूतावास की कार में देखा·· क्यों साहब, असल में यह आदमी कौन होगा?" यह प्रश्न भी है और उत्तर भी। इस संकलन की कहानियों को पढते हुए मुझे बार-बार लू शुन याद आते रहे। उन्होंने लिखा था—"कहानियों को साहित्य के स्तर तक उन्नत करने का मेरा भी कोई विचार नही था, मैं इन्हें समाज को सुधारने मात्र के लिए इस्तेमाल करना चाहता था।" और रमेश उपाध्याय ने भी (सारिका 1-15 नवम्बर '84) यही बात कही है—(कहानी से) "दुनिया बदलेगी या नही, मै नही जानता, लेकिन मैं कोशिश तो करूंगा कि वह बदले।" तो, यहां रमेश उपाध्याय परिवर्तन की इच्छा से पूरी ईमानदारी से लेखन में रत साफ ही समकालीन हिन्दी कथाकारों मे विशिष्ट दिखाई पड़ते हैं। यहां तक आते-आते लगता है कि उन्होंने अपनी मंजिल और उस तक ले जाने वाला रास्ता दोनों ही चुन लिए हैं।

1981 में एक साथ तीन कहानी-संकलन प्रकाशित हुए—'चतुर्दिक', 'बदलाव से पहले', और 'पैदल अंधेरे में'। 'चतुर्दिक' में चार लम्बी कहानियां हैं। आवरण पृष्ठ पर डा० राजकुमार शर्मा की टिप्पणी है। एक अंश: "इस संग्रह की कहानियां जहां एक ओर एक सचेत लेखक के प्रगतिशील रचनात्मक संघर्ष की एक विशिष्ट स्थिति की सूचना देती हैं, वहीं दूसरी तरफ जनवादी कहानी के उन सकारात्मक पक्षों की भी गवाही देती हैं, जिन्हें वस्तु और शिल्प के मोर्चों पर एक लम्बे संघर्ष द्वारा उपलब्धि के रूप में हासिल किया गया है।" वस्तु और शिल्प के सानुपातिक और सार्थक योग का उम्दा उदाहरण है 'कामधेनु'। यहां एक फैंटेसी का रचाव है। राज्यलक्ष्मी की गाय कामधेनु है जिसे बीमार बनाए रखने में ही उनकी रुचि है। यह गाय और कोई नहीं, हम सब यानी जनता है और राज्यलक्ष्मी हमारे शासक हैं। शिल्प की दृष्टि से 'दूसरी आजादी' भी महत्त्वपूर्ण है जो इमरजेंसी के बाद की स्थितियों पर आधारित है, परन्तु इस कहानी में वृद्धी असहाय मंगो के संदर्भ में दूसरी आजादी का एक और आशय भी है। गांव से हटाकर उसे दिल्ली भेजा जाना उसकी दूसरी आजादी है। पर यह परिवर्तन भी एक छलना ही प्रमाणित होता है। यहां लेखक ने समाज के पिछड़े तबके की हकीकत उजागर की है। चमार सुरजा थानेदार बनने पर अपने ही वर्ग का शोषणकर्ता भी बन जाता है। गांव का ठाकुर तो पारम्परिक शोषक है ही। मंगो के नये मालिक विश्वकांत कैसी मीठी बातों से उसे बहलाते हैं! उन बातों के राजनीतिक आशय ग्रहण करने में जरा भी प्रयास नहीं करना पड़ता। 'धरम्यानासिंह' समाज-सेवा के नाम पर अपनी रोटी सेंकने वालों के छद्म को सामने लाती है। 'अग्निसंभवा' में एक बार फिर से रमेश की कुशल किस्सागोई का नमूना देखने को मिलता है। पर यहां केवल कथा की रोचकता ही है, विश्वसनीयता उत्पन्न करने की जरूरत शायद महसूस नहीं की गई है। लेखक यहां अपनी बात कहने के उत्साह में कहानी को इतना तेज दौड़ाता है कि हम कहीं भी उससे जुड़ नहीं पाते हैं। यहां वह समाज-व्यवस्था की क्रूरता, नारी की असहायता, धर्म का पाखंडी भरा रूप—सब बातें एक साथ ले आया है, सबसे ज्यादा असरदार है उसकी काव्यमयी किन्तु सहज भाषा की फुहारें। पर यहां तक आते-आते लेखक का वैचारिक आग्रह कहानियों पर हावी होता नजर आता है। लगभग सभी कहानियों में कम्युनिस्ट पात्र हैं और वे भले पात्र हैं। बल्कि भले हैं ही इसलिए कि वे कम्युनिस्ट हैं। लेकिन लेखक की जल्दबाजी उनके भलेपन को स्थापित नहीं होने देती। हर कहानी में मार्क्सवादी विचार-सूत्र हैं जो कहानी का अंग न बन पाने के कारण अलग-थलग नजर आते हैं।

'बदलाव से पहले' संकलन की पांच कहानियों में से एक है 'कल्पवृक्ष'। स्वाभाविक ही है कि इसे पढ़ते हुए 'कामधेनु' की याद आती है। 'कल्पवृक्ष' भी

फैंटेसी-परक कहानी है, पर 'कामधेनु' की अपेक्षा अधिक सहज और स्वाभाविक। यहां प्रतीक कहानी में से ही उभरता है, आरोपित नहीं लगता। वस्तुतः रमेश ज ां कहानी को अपना काम करने देते हैं। वहां पूरी तरह सफल होते हैं परन्तु जैसे ही उनका विचारक कहानीकार से आगे निकलने की कोशिश करता है वहीं कहानी पिछड़ जाती है। 'कल्पवृक्ष' में जैसे देश का वर्तमान परिदृश्य ही सजीव हो उठा है। कहानीकार का सोच यहां भी है। पूरी ताकत के साथ है। अन्तिम पंक्तियां देखिए—"यहां हम पर तरस खाते हुए आने की जरूरत नहीं। अगर तुम वाकई हमारे लिए कुछ करना चाहते हो, तो आओ हमारे साथ लड़ो। लड़ सकते हो?" 'बराबरी का खेल' भी राजनीतिक अभिप्रायों वाली ही कहानी है। राजा बाबू (नाम भी साभिप्राय है) अपनी प्रजा को इकट्ठा कर एक 'खेल' खेलते हैं। वास्तव में तो वे खेत के बहाने उनका शोषण ही करते है। बराबरी के नाम पर। समाजवाद के नाम पर। अन्त में वे लोग इस शोषण को समझ लेते हैं और प्रतिकार करते हैं। 'बदलाव से पहले' थोड़ा पहले का हाल बयान करती है। शायद नेहरू युग का। जब सारा ज़ोर विराट् प्रगति पर था। लेखक एक परिवार की कहानी कहने के बहाने भौतिक प्रगति के लिए अपनाये गए समझौते के रास्तों पर अपनी टिप्पणी करता है। उस सारी प्रक्रिया में आम आदमी की दुर्दशा की तस्वीर उभरती चलती है। 'पानी की लकीर' में एक धार्मिक आश्रम का परिदृश्य उभारकर संघर्ष बनाम सुविधा। समझौते का सवाल उठाया गया है। 'माटी मिली' इन सबसे अलग प्रकार की कहानी है जहां एक मामूली औरत रधिया की व्यथा-कथा कही गई है। लेखक बहुत सहज रूप से मानवीय कमज़ोरियों और विवशताओं को सामने लाता चलता है। गांव की ज़िन्दगी का बहुत प्रामाणिक चित्रण यहां है और लेखक ने अपनी विचारधारा को कहीं भी बलात् आरोपित नहीं किया है।

रमेश के लेखन की ताकत और कमज़ोरी दोनों को एक साथ 'पैदल अंधेरे में' की कहानियों में देखा जा सकता है। यहां कुछ कहानियां तो केवल इसलिए ही कहानी मानी जायेंगी कि वे किसी कहानी-संकलन का भाग हैं, अन्यथा उन्हें निबन्ध ही माना जाना चाहिए। इस संकलन की 'आग', 'पानी', 'पैदल अंधेरे में', 'नैतिक नितांत' 'कितने प्रकाश वर्ष' आदि ऐसी कहानियां हैं जहां लेखक ने बिना किसी तकल्लुफ के साम्यवादी विचारधारा को प्रस्तुत किया है। मेरी शिकायत विचारधारा की उपस्थिति या साम्यवादी विचारधारा से कतई नहीं है। मेरी शिकायत तो इस बात को लेकर है कि यहां विचारधारा इतनी ज्यादा हो गई है कि कहानी को तो चिराग लेकर ढूंढ़ना पड़ता है। ये रचनाएं आखिर किन पाठकों के लिए लिखी गई हैं? सामान्य पाठक तो इन्हें पढ़ नहीं सकता। ऊब कर बीच में ही छोड़ देगा। और प्रबुद्ध या अति प्रबुद्ध पाठक? एक तो यह

कि वह इन बातों को जानता है, दूसरे, वह ऐसी गूढ़ बातों को जानने के लिए शुद्ध सिद्धांत भी पढ़ सकता है। इस तरह कुल मिलाकर लेखक का प्रयास ही निरर्थक हो जाता है। मैं चाहता हूं कि रमेश पाठक की दृष्टि से भी अपने लेखन के बारे में कुछ सोचें। इन कुछ कहानियों की अपेक्षा इसी संकलन की 'घोंसले' या 'डाका' कहानियां सफल है जहां बात बोलती है, खुद रमेश उपाध्याय नहीं। विचारधारा 'डाका' में भी है पर पूरी तरह कहानी में ही घुल-मिलकर है, ऊपर सतह पर अलग से तैरती हुई नहीं। शिल्प की दृष्टि से उल्लेखनीय कहानी है 'शब्दध्वनि की कथा'। यहां जातक कथाओं वाला शिल्प अपना कर आत्मीयता पैदा की गई है। यह कहानी बहुत दूर तक सहजता से चलती है, किंतु अंत तक पहुंचते-पहुंचते जैसे लेखक का विचारक जाग उठता है और वहीं से कहानी तो खत्म हो जाती है और निबन्ध शुरू हो जाता है। वैसे प्रायः रमेश किसी कम्युनिस्ट पात्र की अवतारणा करके सैद्धान्तिक बहस का अवसर पैदा करते हैं (जैसे 'सब कुछ के बावजूद' में ब्रजमोहन)। इससे कुछ स्वाभाविकता तो आती है पर कहानियों में बार-बार आती यह स्थिति लेखक के अतिरिक्त आग्रह को भी उभार देती है।

1984 में प्रकाशित 'राष्ट्रीय राजमार्ग' संकलन में पांच कहानियां हैं। इनमें से एक 'कामधेनु' तो 'चतुर्दिक्' में भी थी। 'प्रौढ़ पाठशाला' इस संकलन की बहुत ही सशक्त कहानी है जिसमें एक छोटे-से गांव के वर्ग-संघर्ष को बहुत विश्वसनीय तरीके से प्रस्तुत किया गया है। कहानी की सफलता इसी में है कि इसमें लेखकीय हस्तक्षेप नहीं है और सारी बातें कथा में से ही उभरती हैं। लेखक का आशावाद भी। लेकिन संकलन की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'राष्ट्रीय राजमार्ग' है। इस कहानी को रमेश के ही नहीं, सम्पूर्ण जनवादी लेखन के एक नये पड़ाव के रूप में रेखांकित किया गया है। यह एक रूपक-कथा है। यह कहानी शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, लेखक की वैचारिक समृद्धि का भी पूरा परिचय देती है। कहानी परत-दर-परत शासन-व्यवस्था के छद्म और उसके पूंजीवादी पक्षपात को उजागर करती चलती है। यहीं यह बात भी सामने आती है कि शासन तन्त्र लगातार असहिष्णु बनता जा रहा है। कथानायक सत्यप्रिय श्रीवास्तव को पहले तो अपनी रचनात्मक क्षमताओं का उपयोग करने की छूट थी परन्तु बाद में उनकी रचनाशीलता को नष्ट करने के प्रयास किए जाने लगते हैं। शासन तन्त्र उनकी बजाय माधोप्रसाद का पक्ष लेता है जो बेईमान है। वैसे, शासन तन्त्र की असहिष्णुता को इसी संकलन की 'शहर सुन्दर है' में भी उभारा गया है जहां बेचारे रामसेवक को सहज इसलिए आतंकित किया जाता है कि वह दिल्ली शहर के गन्दे इलाकों की सफाई का रचनात्मक सुझाव दे रहा है। 'राष्ट्रीय राजमार्ग' पर टिप्पणी करते हुए श्री ओमप्रकाश ग्रेवाल ने ठीक ही लिखा है—"रमेश की

इस कहानी में भी फोकस तो पहले की कहानियो की तरह मध्यवर्गीय पात्रों पर ही रहता है पर अब उनके वैकल्पिक निर्णयों और प्रतिक्रियाओं को स्वायत्त रूप मे प्रस्तुत करने की बजाय यहां उन्हे निर्धारित करने वाले सामाजिक ढांचे के अन्तर्गत दिखाया जाता है और इस प्रकार मध्यवर्गीय मानसिकता या नैतिक विशिष्टता के चित्रण मे पहले की रचनाओं की तुलना मे अधिक मूर्त्तता आ जाती है ।"

अप्रैल 84 से अगस्त 84 तक 'सारिका' में 'किसी देश के किसी शहर में' शृंखला में रमेश की छह रूपक कथाएं प्रकाशित हुईं। ये थी—'बोझ', 'रोशनी', 'हवा', 'मिट्टी', 'समय' और 'मौसम'। कहा गया कि इन कहानियों के माध्यम से रमेश ने रूपक कथा की अभिव्यक्ति सम्भावनाओं का जायजा लिया। हम देख ही चुके है कि रमेश इस तरह के प्रयोग पहले भी कर चुके हैं। इन कहानियों के द्वारा उन्होने अपने सजग-सम्वेदनशील-सोद्देश्य कथाकार रूप का पूरी क्षमता के साथ परिचय दिया। यहां वे पहले की कुछ कमजोरियों से भी पूरी तरह मुक्त नजर आते हैं। इसके बाद रमेश की एक महत्त्वपूर्ण कहानी अक्टूबर 85 में प्रकाशित 'पहल' के कहानी पर केन्द्रित विशेष अंक में पढने को मिली—'अनदीखती'। यह कहानी एक वर्ष पुरानी भोपाल गैस त्रासदी से प्रेरित है। कहानी एक अमेरिकी वैज्ञानिक एण्डरसन की है जो 'किसी देश' मे एक प्रयोग करने आता है। प्रयोग है आदमियो को बन्दर बनाना। उसकी प्रयोगशाला का एक जूनियर वैज्ञानिक बहुत बाद मे, प्रयोगशाला से भागकर वहा के त्रासद अनुभव बताता है। त्रासद अनुभव विकासशील देशों पर बढते जा रहे पूजीवादी शिकजे के पर्याय हैं। कहानी का अन्त सीधे भोपाल त्रासदी से जुड़ता है। वैज्ञानिक बयान करता है—"मेरे देश से प्राप्त ताजा सूचना यह है कि वहां के लोगों की जिन्दगी पर अमरीकियों का शिकंजा बुरी तरह कस गया है। उन्होने मेरे समूचे देश को एक अनदीखती प्रयोगशाला बना लिया है। अब उन्हे बन्दरों के व्यापार मे जरा भी दिलचस्पी नही रह गयी है। बन्दरों पर किये जाने वाले प्रयोग और परीक्षण अब वे मेरे देश के लोगों पर करते हैं। पिछले दिनों उन्होने मेरे देश के एक सुन्दर शहर के हजारो लोगों को एक रासायनिक अस्त्र के परीक्षण मे मार दिया जिससे लोग मर जाते हैं पर सम्पत्ति को कोई क्षति नही पहुंचती। लेकिन मेरे देशवासियों का हाल यह है कि ऐसे हादसों मे हजारों-लाखों के मर जाने पर भी उनके दिलों मे शर्म तक पैदा नही होती। ऐसा नही कि सबके सब बन्दर बन गए है, लेकिन पशुओं के राज्य में मनुष्यों को कौन पूछता है!" यह लम्बा उद्धरण देना मुझे जरूरी लगा। यहां रमेश अपनी समस्त क्षमता के साथ मौजूद हैं। इस कहानी में शिल्प-कौशल तो है ही, जिन्दगी और उसके स्वस्थ मूल्यों के साथ एक लेखक का सरोकार

सही तरह से अभिव्यक्त हो पाया है। रचनाकार की क्षमता इसमें भी सिद्ध हुई है कि वह भोपाल त्रासदी को अधिक व्यापक फलक पर और उसकी सम्पूर्ण भयावहता के साथ चित्रित कर पाया है।

अपने सारे लेखन में रमेश यह एहसास बराबर कराते रहते हैं कि वे मनोरंजन या वक्त काटने के लिए पढ़ी जाने वाली रचनाओं के लेखक नहीं हैं। यहीं यह जिक्र भी प्रासंगिक होगा कि रमेश उन चन्द लेखकों में से हैं जिन्होंने घोषित रूप से व्यावसायिक पत्रिकाओं का बहिष्कार किया था। अब वे उनमें पुनः लिखने भी लगे हैं तो उनकी आलोचना करने से पूर्व यह देख लिया जाना चाहिए कि क्या उन्होंने व्यावसायिक पत्रिकाओं के लिए अपने लेखन को बदला है? 'किसी देश के किसी शहर में' शृंखला की छह कहानियां तो यही बताती हैं कि वे देह व्यापार के नाम पर बिक्री बढ़ाने वाली पत्रिकाओं में भी अपनी शर्तों पर ही लिख रहे हैं। यह भी रमेश की क्षमता का एक उदाहरण है। खैर! बात उनके रचना-सरोकारों की हो रही थी। वे बहुत सजग और दृष्टि-अनुभव-ज्ञान सम्पन्न रचनाकार हैं और एक खास सोच के तहत लिखते हैं। मैं लेखन के लिए विचारधारा की अपरिहार्यता को स्वीकारता हूं। इसीलिए रमेश के कथा-साहित्य का प्रशंसक भी हूं। श्री ओमप्रकाश ग्रेवाल ने जो कहा है—"निश्चित उद्देश्य से लिखी जाने वाली रचना पाठक को शिक्षित करने का एक गम्भीर प्रयास होती है।" वह रमेश के कथा साहित्य में बराबर चरितार्थ होता दीखता है। निश्चय ही वे अपने पाठक को शिक्षित करने के लिए ही लिखते हैं। देखने की बात यह है कि अपने इस प्रयास में वे किस हद तक सफल होते हैं। अगर कहीं वे असफल होते हैं तो कारणों की पड़ताल भी की जानी चाहिए। मध्यमवर्गीय जीवन स्थितियों की प्रामाणिक पहचान और सत्ता के विविध रूपों और चरित्रों की गहन जानकारी के कारण वे मुझे इधर के रचनाकारों से इक्कीस ही लगते हैं। उनकी कहानियों में हर छोटी से छोटी डिटेल साभिप्राय होती है, यह तथ्य उनकी सजगता का परिचायक है। कभी फैंटेसी तो कभी रूपक का शिल्पगत प्रयोग करके वे अपनी बात को ज्यादा-से-ज्यादा पूर्णता के साथ सम्प्रेषित करना चाहते हैं, यह उनकी अपने लेखन कर्म से आस्था का प्रमाण है। लेकिन मैं यह नहीं जान पाया कि वे वैचारिक संघर्ष को सीधे-सीधे बहस के रूप में रखकर अपनी कहानियों को उबाऊ क्यों बना डालते हैं? वे भले ही किसी विचारवान चरित्र को लाकर इस तरह की बहस का औचित्य स्थापित कर दें परन्तु कहानी को कहानी तो रहना चाहिए न? इस तरह की बहसों से गुजरते हुए मुझे खुद रमेश का ही कथन स्मरण हो आता है—"रचना में मात्र चिन्तन के स्तर पर कुछ नहीं होता, अनुभव को चिंतन से अलग नहीं किया जा सकता।" पर रमेश उत्साह या जल्दबाजी में प्रायः चिन्तन को अनुभव में तब्दील होने से पूर्व ही

कागज पर उतार डालते हैं। जहां वे ऐसा नहीं करते वहीं अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ नजर आते हैं। यह सुखद बात है कि वे अपने इधर के लेखन में इस कमज़ोरी से मुक्त होने लगे हैं। मैं चाहता हूं कि रमेश सैद्धान्तिक आवेग और क्रांति-धर्मिता के उल्लास में जीवन की प्रामाणिकता की उपेक्षा न करें। रचना को विचार तक सीमित कर लेना या विचारधारा को ही रचना मान लेना बहुत आसान है, परन्तु रमेश जिस मिशनरी भावना के साथ सृजनरत हैं वह आसानी का सफर नहीं है। हमें रमेश उपाध्याय से और बेहतर रचनाओं की उम्मीद बनी रहेगी।

प्रेमचंद साहित्य में सामाजिक समस्याएं

मुंशी प्रेमचंद ने अपना लेखन लगभग 1900 में उर्दू में प्रारम्भ किया। उनका पहला उपन्यास 'असरारे मुआबिद' उर्फ 'देवस्थान का रहस्य' वाराणसी के 'आवाज-ए-खल्क' में 8 अक्टूबर 1903 से 1 फरवरी 1905 तक धारावाहिक प्रकाशित हुआ। इस अपूर्ण उपन्यास से अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' तक उन्होंने कुल 15 उपन्यास लिखे—प्रेमा, किशना, रूठी रानी, वरदान, सेवा सदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि और गोदान। इनके अतिरिक्त लगभग 300 कहानियां, तीन नाटक, कतिपय नाट्यानुवाद, जीवनियां और स्फुट लेख—यह है उनका साहित्य।[1]

साहित्य के बारे में प्रेमचन्द की दृष्टि एकदम साफ थी। साहित्य न उनके लिए आजीविका का साधन था न मनबहलाव का।[2] वे स्पष्ट रूप से सोद्देश्य साहित्य के पक्षधर थे और उनका उद्देश्य था अपने काल की विषम स्थितियों का परिष्कार। उन्हीं के शब्दों में—"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] उन्होंने अन्यत्र लिखा, "साहित्य जीवन की समस्याओं पर विचार करता है और उन्हें हल करता है।"[4] प्रेमचन्द ने साहित्य, समाज और राजनीति के सम्बन्ध पर भी विचार किया और कहा—"इन तीनों का उद्देश्य जब एक ही है तो साहित्य, समाज और राजनीति का सम्बन्ध अटूट है। समाज आदमियों के गिरोह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ और सुख-दुःख होता है, वह भी व्यक्तियों पर पड़ता है। साहित्य से लोगों का विकास होता है, साहित्य से मनुष्य के विचार अच्छे या बुरे बनते हैं, इन्हीं विचारों को लेकर मनुष्य जीता है। इन तीनों चीजों की पैदावार का कारण मनुष्य है।"[5] प्रेमचन्द ने चिरन्तनता के नाम पर बार-बार पूछे गये प्रश्नों की जुगाली करने की बजाय 'समाज में ठोस पत्थर की तरह पीड़ादायी प्रश्न' उठाए क्योंकि इन प्रश्नों का

नुकीलापन उनके भावुक, संवेदनशील मन को बार-बार लहूलुहान करता था।

उनकी रचनाओं में यथार्थ की अनेक कोटियां मिलती हैं। 'रानी सारंधा', 'अनमोल रतन' में यथार्थ के साथ पुनरुत्थानवादी दृष्टि है, 'प्रेमा', 'सेवासदन' में सुधारवादी, 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दारोगा' आदि में हृदय परिवर्तन-वादी, 'सत्याग्रह,' 'आहुति' आदि में गांधीवादी, 'पंच परमेश्वर', 'ईदगाह' आदि मे आदर्शवादी, 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा' आदि में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' और 'गोदान', 'कफन', 'पूस की रात' आदि में स्पष्टतः यथार्थवादी दृष्टि।

प्रेमचन्द को सामाजिक यथार्थ का कथाकार कहा गया है, इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि उनके कृतित्व मे समाज का बहिरंग अधिक है और अन्तरंग कम तथा ग्राम्य समाज के चित्रण मे वे अधिक सफल हुए है। "उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र" कहने वाले प्रेमचन्द ने अपने समग्र साहित्य को तत्कालीन समाज का दर्पण बनाने का ईमानदार प्रयास किया है। कुछ आलोचकों का यह मत मुझे कतई अतिशयोक्तिपूर्ण नही लगता कि हिन्दी साहित्य मे अकेला प्रेमचन्द साहित्य ही ऐसा है जिसमे रचनाकार का पूरा युग अपने सामाजिक, राज-नीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक आयामों सहित प्रतिबिम्बित होता है। युग की प्रत्येक धड़कन उस साहित्य मे महसूसी जा सकती है। यही नही, युग जैसे-जैसे विकास की ओर अग्रसर होता है, उसकी हलचल भी प्रेमचन्द साहित्य मे अंकित मिलती है।

प्रेमचद ने अपने काल की लगभग समस्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। उन्होने दरअसल अपने समय के प्रत्येक स्वर को अपने रक्त मे महसूस किया, महसूस ही नही किया, समझा और पहचाना भी। गांव और शहर, व्यक्ति और परिवार, स्त्री और पुरुष, परिवार और समाज, गरीब और अमीर, अछूत और सवर्ण, कुलवधू और नगर वधू, अनमेल विवाह की शिकार और विधवा, व्यक्ति पर परम्पराओं का बोझ और आधुनिकता का बढता नशा—सब कुछ उनकी पैनी नजरों मे समाया है और रचनाओं में चित्रित हुआ है। समाज पर औद्योगीकरण का दुष्प्रभाव, गुलामी के अभिशाप, साम्प्रदायिकता का विषैला प्रभाव, किसान-मजदूर संघर्ष, भाषा-समस्या, अर्थ का व्यक्ति, परिवार और समाज पर प्रभाव, नैतिकता और समाज, गांधीवादी समाज व्यवस्था—तात्पर्य यह कि तत्कालीन समाज को प्रभावित करने वाला शायद ही ऐसा कोई बिन्दु हो जो उनकी निगाह से बच पाया हो। इस बात की चर्चा कर कि प्रेमचंद ने किस रचना के किस प्रसंग में किस सामाजिक समस्या का चित्रण किया है, मैं अनावश्यक विस्तार में नही जाना चाहता।

प्रेमचंद के जीवन और साहित्य का यत्किंचित अध्ययन कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि जीवन के कटु यथार्थो ने उस निहायत आदर्शवादी व्यक्ति को यथार्थवाद के कठोर धरातल तक पहुंचाया। उनकी अधिकांश प्रारम्भिक रचनाओं

में समाज को प्रभावित करती कोई-न-कोई समस्या जहां है वहीं उसका समाधान भी है। 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'मंदिर' आदि कहानियों में अछूतोद्धार किया गया है, 'नमक का दारोगा' में ईमानदार अहलकार के माध्यम से समस्या सुलझी है तो 'पंच परमेश्वर' में आत्मा की आवाज से। यही बात पूर्वार्द्ध के उपन्यासों में भी देखने को मिलती है। वहां "वे समाज व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सहलाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत: उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।"[6] 'सेवा सदन' में अनमेल विवाह और आर्थिक अभावों से सुमन भोलीबाई के कोठे तक पहुंचती है तो वहीं सेवा सदन की स्थापना भी करती है। 'कृषक जागृति के महाकाव्य' 'प्रेमाश्रम' में कृषकों की दीनता और अकृषकों की चरित्रभ्रष्टता का मूल कारण जमींदारी प्रथा बताई गई है और अन्त में विकल्प के रूप में 'प्रेमाश्रम' प्रस्तुत किया गया है। वहां प्रेमशंकर और मायाशंकर दोनों की रक्षा में प्रेमाश्रम के सदस्यों का हाथ बंटाते हैं। वे गांव में रामराज्य की स्थापना कर विविध सुधारों, सफाई, शिक्षा, उन्नत कृषि आदि के कार्य में संलग्न हो प्रजा के ट्रस्टी बन जाते हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास न केवल अकेला क्रूर व्यवस्था से लड़ता है, कई अवसरों पर नैतिक विजय भी प्राप्त करता है। 'संग्राम' नाटक का सबल सिंह यह समझता है कि व्यक्ति जीवन में घुसपैठ करने वाले अनाचारों का मूल सम्पत्ति है अत: वह अपनी समस्त सम्पत्ति का त्याग कर देता है।

लेकिन 'निर्मला' में प्रेमचंद समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत करते दिखाई नहीं देते। हिन्दू समाज के एक बड़े अभिशाप दहेज की भयावह तस्वीर तो ये प्रस्तुत करते हैं, अनमेल विवाह की समस्या भी उठाते हैं पर इन समस्याओं का कोई समाधान वे नहीं जुटाते। यहां तक आते-आते प्रेमचंद का रचनाकार अधिक प्रौढ़ता का परिचय देने लगता है। "निर्मला प्रेमचंद की उपन्यास कला के विकास में एक मील का पत्थर है। वह सामाजिक समस्या को मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसे सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जा सकता है। वह प्रेमचंद के सर्वाधिक सुगठित उपन्यासों में से एक है। आकार में छोटा होने पर भी प्रेमचंद की उपन्यास कला की सामर्थ्य और सीमा को व्यक्त कर सकने की सामर्थ्य उसमें है।"[7] उपन्यास की सामर्थ्य इसमें है कि उसमें एक केन्द्रीय समस्या को यथार्थपूर्ण चित्रण मिला है और सीमा इसमें कि अतिशय संयोगों का सहारा लिया गया है। पर यहां से प्रेमचंद का विश्वास समाधानों से उठता दिखाई देता है। यही कारण है कि परवर्ती उपन्यासों—'गबन', 'गोदान', 'मंगलसूत्र' में वे कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते, 'पूस की रात' और 'कफन' कहानियों में अपनी कटुता को नहीं छिपाते। 'मंगलसूत्र' में तो वे उन लोगों पर, जिन्हें जीवन में आदर्श दिखाई देता है, बड़ी तल्ख टिप्पणी करते हैं—

"हां, देवता हमेशा रहे हैं और रहेंगे। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है, वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हे देवता क्यों कहो ? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आंखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नही, तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नही। और यहां देवता बनने की जरूरत भी नही'''नही, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच मे उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नही है, जड़ता है।"

'पूस की रात' मे हलकू का और 'कफन' मे धीसू-माधव का व्यवहार भी उनके इसी जुझारू तेवर की पिछली कड़ी के रूप मे देखा जा सकता है।

तो, जिस प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों मे सभी तात्कालिक सामाजिक समस्याओ का चित्रण किया और उनके लिए यथासभव आदर्शवादी समाधान सुझाए, जीवन को जरा नजदीक से देखने के बाद यह महसूस करने लगे कि सभी समस्याओं के मूल में महाजनी सभ्यता है। जब तक यह ध्वस्त नही होती, समस्याएं हल नही होने की हैं। 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख मे उन्होंने बहुत साफ शब्दो में कहा है—

"मनुष्य समाज दो भागो मे बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालो का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगो का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं...

जिनके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है, उसका अंत.करण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में हैं। यह हवा इतनी जहरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है...

जिसमे मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्यबोध है वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नही कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो।"

वस्तुत: प्रेमचंद की रचनात्मक मानसिकता मे जो आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व है वह उनके युग के अन्तर्विरोधों और ऐतिहासिक परिस्थितियों का दाय है। अपने अन्तिम काल मे उन्हे समाज के ढांचे और वर्गों की सही स्थिति के बारे में अधिक सही ज्ञान हो गया था। निश्चय ही जीवन के अन्तिम दिनों में उनका

झुकाव मार्क्सवाद की ओर होने लगा था। समस्या चाहे वेश्या की हो या अछूत की या दहेज की या आभूषण-प्रेम की, किसान की हो या मजदूर की, इन सबके मूल मे आर्थिक शोषण का दुष्चक्र अवश्य है। इस अन्तिम दौर की रचनाओं में संघर्ष चेतना को नैतिक निष्कर्षों या सुधारवादी उपक्रमों द्वारा अवरुद्ध करने का प्रयास इसलिए भी नही है। परन्तु 'महाजनी सभ्यता' वाले लेख में अवश्य उन्होंने उम्मीद की एक डोर बांधी है—

> "परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड खोदकर फेंक दी है, जिसका पूरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है।"

निश्चय ही "आज का समाज प्रेमचंद के युग का समाज नही रह गया है। प्रेमचंदयुगीन समाज के प्रमुख वर्ग सामन्त, महाजन और किसान थे। समाज के मूलभूत कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते थे। स्वभाव से महाजन अभी पूंजीपति नहीं बने थे। निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्ग का प्रादुर्भाव हो चुका था, किन्तु उसका विस्तार या भूमिका स्पष्ट नही हुई थी। यों तो प्रेमचंद साहित्य में सभी सामाजिक वर्गों और समुदायों के प्रतिनिधि चरित्र मिलते हैं लेकिन प्रेमचंद के प्रमुख पात्र सामन्त और किसान ही हैं। एक महान् दृष्टिवान साहित्यकार की हैसियत से प्रेमचंद ने यह समझ लिया था कि साहित्य मे उन्ही वर्गों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जिन पर समाज का आधारभूत जीवन अवलंबित है।"[8]

प्रेमचंद के समाज चित्रण को देखने पर इस तथ्य पर भी हमारा ध्यान जाता है कि उन्होंने शहरी समाज की अपेक्षा ग्रामीण समाज पर अधिक ध्यान दिया है परन्तु उसे प्रभामंडित करने के खतरे से वे बचे हैं। बजाय इसके, उन्होंने ग्राम्य जीवन की विषमताओं, विसंगतियों, विपन्नताओं, सामन्ती व महाजनी शोषण को उभारा है। प्रारम्भ मे उनका दृष्टिकोण सुधारवादी भी रहा और तब उन्होंने पुनरुत्थानवाद, सुधारवाद, गांधीवाद आदि से प्रेरित चरित्रों का सृजन कर समाज सुधार के प्रयास भी किए। यों, इस आदर्शवाद को एकदम थोथा भी नहीं कहा जा सकता। जिस युग में प्रेमचंद ने आदर्शवादी चरित्रों का सृजन किया उस युग में वास्तव ऐसे आदर्शवादी जन नायक हुए भी हैं जिन्होंने देश व समाज के उत्थान के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर किए। पर प्रेमचंद की महत्ता इस तथ्य में निहित है कि उनका आदर्शवाद कोरा आदर्शवाद नहीं, यथार्थवाद से सम्पृक्त आदर्शवाद है। "उनका आदर्शोन्मुख साहित्यकार समाज की वास्तविकता और देश का भविष्य देख लेने से नहीं चूकता। ऐसी ही तीव्र और दूरगामी दृष्टि थी उनकी। उन्होंने जब 1935 में देश के प्रान्तों में कांग्रेसी हुकूमत का तौर-तरीका

देखा तो कांग्रेस और गांधीवाद के सारे आदर्शों का तिलिस्म टूट गया। आज़ादी मिलने के बाद कांग्रेस की हुकूमत कैसी होगी, यह समझने से, दस-बारह साल पहले ही, प्रेमचंद नही चूके। हमारे यहां यही प्रगतिवाद के युग के उदय का समय था। प्रेमचंद ने प्रथम प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का सभापतित्व किया। उसके बाद की उनकी रचनाओं में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की जगह यथार्थवाद ने ले ली। 'गोदान', 'कफन', 'मंगलसूत्र' आदि रचनाएं इसका पक्का सबूत हैं।"[9]

प्रेमचंद के सामाजिक समस्याओं के चित्रण के एक और वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। यही नही कि वे अपने लेखन मे सभी तात्कालिक सामाजिक समस्याओं को समेटते है बल्कि वे "सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों पर अपनी पकड़ को कही भी ढीला नहीं होने देते। उनके कथा साहित्य की बनावट का यह एक जरूरी फ्रेमवर्क है। वे अपने कथा-साहित्य में ऐतिहासिक स्थिति को सामाजिक स्थिति मे और सामाजिक स्थिति को ऐतिहासिक स्थिति में अन्तर्संयोजित करते हैं, उनके अर्थ और आशय को गहराते हैं और उनसे हमारा भरपूर सामना कराते हैं। उनके कथा-साहित्य मे सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक चेतना का अद्भुत मेल हुआ है और इसमे वे अपने समय के आदमी की हालत की पहचान कराने का प्रयत्न करते है। हम अर्थ मे प्रेमचंद के उपन्यास और कहानियां शुद्ध साहित्यिक सक्रियता के नही, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सक्रियता के वाहक है।"[10]

प्रेमचंद की रचनाओं की प्रासंगिकता पर इन दिनों खूब चर्चा हुई है। प्रेमचंद के साथ-साथ प्रासंगिकता को भी समझने और व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है। निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख मे कहा है: "प्रासंगिकता के बारे में हमारे यहां कोई स्पष्ट नही है। प्रेमचन्द अब पुराने पड़ गए हैं, प्रेमचन्द कभी पुराने नही पड़ सकते—इन दो चरम विरोधी मतों के पीछे मूल्यांकन के कोई अलग-अलग निष्कर्ष नही दिखाई देते। खुले-छिपे शब्दों में मूल्यांकन की एक ही कसौटी मान ली गई है—साहित्य की सामाजिक उपादेयता—और चूंकि इस शब्द उपादेयता मे कुछ पुराने फैशन की, 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की गन्ध आती है, इसलिए उसे प्रयोग करने मे हम थोड़ा-सा हिचकते हैं, उसके बदले प्रासंगिकता या सार्थकता जैसे आधुनिक शब्द का इस्तेमाल करते हैं।"[11] इस बात पर बहस की पर्याप्त गुंजाइश है कि प्रेमचंद की रचनाओं की प्रासंगिकता (सामाजिक उपादेयता—जैसा निर्मल वर्मा ने कहा और थोड़ा तोड़-मरोड़कर कहा) पर चर्चा हो या नही, यह भी कि प्रेमचन्द ने जिन समस्याओं का चित्रण अपने लेखन में किया वे आज भी हैं या नही। उदाहरणार्थ निर्मल वर्मा ने तो कह दिया कि वे समस्याएं आज नहीं हैं, पर मेरे लिए इस बात से सहमत हो पाना कठिन है। जिस 'महाजनी सभ्यता' से प्रेमचन्द त्रस्त थे, आज वह पहले से कही अधिक उग्र

झुकाव मार्क्सवाद की ओर होने लगा था। समस्या चाहे वेश्या की हो या अछूत की या दहेज की या आभूषण-प्रेम की, किसान की हो या मजदूर की, इन सबके मूल में आर्थिक शोषण का दुष्चक्र अवश्य है। इस अन्तिम दौर की रचनाओं में संघर्ष चेतना को नैतिक निष्कर्षों या सुधारवादी उपक्रमों द्वारा अवरुद्ध करने का प्रयास इसलिए भी नही है। परन्तु 'महाजनी सभ्यता' वाले लेख में अवश्य उन्होंने उम्मीद की एक डोर बांधी है—

> "परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका पूरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है।"

निश्चय ही "आज का समाज प्रेमचंद के युग का समाज नही रह गया है। प्रेमचंदयुगीन समाज के प्रमुख वर्ग सामन्त, महाजन और किसान थे। समाज के मूलभूत कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते थे। स्वभाव से महाजन अभी पूंजीपति नही बने थे। निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्ग का प्रादुर्भाव हो चुका था, किन्तु उसका विस्तार या भूमिका स्पष्ट नही हुई थी। यों तो प्रेमचंद साहित्य मे सभी सामाजिक वर्गों और समुदायों के प्रतिनिधि चरित्र मिलते हैं लेकिन प्रेमचंद के प्रमुख पात्र सामन्त और किसान ही हैं। एक महान् दृष्टिवान साहित्यकार की हैसियत से प्रेमचंद ने यह समझ लिया था कि साहित्य मे उन्ही वर्गों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जिन पर समाज का आधारभूत जीवन अवलंबित है।"[8]

प्रेमचंद के समाज चित्रण को देखने पर इस तथ्य पर भी हमारा ध्यान जाता है कि उन्होने शहरी समाज की अपेक्षा ग्रामीण समाज पर अधिक ध्यान दिया है परन्तु उसे प्रभामंडित करने के खतरे से वे बचे है। बजाय इसके, उन्होने ग्राम्य जीवन की विषमताओं, विसंगतियों, विपन्नताओं, सामन्ती व महाजनी शोषण को उभारा है। प्रारम्भ मे उनका दृष्टिकोण सुधारवादी भी रहा और तब उन्होंने पुनरुत्थानवाद, सुधारवाद, गांधीवाद आदि से प्रेरित चरित्रों का सृजन कर समाज सुधार के प्रयास भी किए। यों, इस आदर्शवाद को एकदम थोथा भी नही कहा जा सकता। जिस युग मे प्रेमचंद ने आदर्शवादी चरित्रों का सृजन किया उस युग मे वाकई ऐसे आदर्शवादी जन नायक हुए भी हैं जिन्होंने देश व समाज के उत्थान के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर किए। पर प्रेमचंद की महत्ता इस तथ्य मे निहित है कि उनका आदर्शवाद कोरा आदर्शवाद नही, यथार्थवाद से सम्पृक्त आदर्शवाद है। "उनका आदर्शोन्मुख साहित्यकार समाज की वास्तविकता और देश का भविष्य देख लेने से नहीं चूकता। ऐसी ही तीव्र और दूरगामी दृष्टि थी उनकी। उन्होंने जब 1935 में देश के प्रान्तों मे कांग्रेसी हुकूमत का तौर-तरीका

देखा तो कांग्रेस और गांधीवाद के सारे आदर्शों का तिलिस्म टूट गया। आजादी मिलने के बाद कांग्रेस की हुकूमत कैसी होगी, यह समझने से, दस-बारह साल पहले ही, प्रेमचंद नहीं चूके । हमारे यहां यही प्रगतिवाद के युग के उदय का समय था । प्रेमचंद ने प्रथम प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का सभापतित्व किया । उसके बाद की उनकी रचनाओं में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की जगह यथार्थवाद ने ले ली । 'गोदान', 'कफन', 'मंगलसूत्र' आदि रचनाएं इसका पक्का सबूत हैं ।"[9]

प्रेमचंद के सामाजिक समस्याओं के चित्रण के एक और वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं । यही नहीं कि वे अपने लेखन में सभी तात्कालिक सामाजिक समस्याओं को समेटते हैं बल्कि वे "सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों पर अपनी पकड़ को कही भी ढीला नहीं होने देते । उनके कथा साहित्य की बनावट का यह एक जरूरी फ्रेमवर्क है । वे अपने *कथा-साहित्य में ऐतिहासिक स्थिति* को सामाजिक स्थिति में और सामाजिक स्थिति को ऐतिहासिक स्थिति में अन्तर्संयोजित करते हैं, उनके अर्थ और आशय को गहराते हैं और उनसे हमारा भरपूर सामना कराते हैं । उनके कथा-साहित्य मे सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक चेतना का अद्भुत मेल हुआ है और इसमे वे अपने समय के आदमी की हालत की पहचान कराने का प्रयत्न करते है । इस अर्थ मे प्रेमचंद के उपन्यास और कहानियां शुद्ध साहित्यिक सक्रियता के नही, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सक्रियता के वाहक हैं ।"[10]

प्रेमचंद की रचनाओं की प्रासंगिकता पर इन दिनों खूब चर्चा हुई है । प्रेमचंद के साथ-साथ प्रासंगिकता को भी समझने और व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है । निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख में कहा है : "प्रासंगिकता के बारे में हमारे यहां कोई स्पष्ट नही है । प्रेमचन्द अब पुराने पड़ गए हैं, प्रेमचन्द कभी पुराने नहीं पड़ सकते—इन दो चरम विरोधी मतों के पीछे मूल्यांकन के कोई अलग-अलग निष्कर्ष नहीं दिखाई देते । खुले-छिपे शब्दों में मूल्यांकन की एक ही कसौटी मान ली गई है—साहित्य की सामाजिक उपादेयता—और चूंकि इस शब्द उपादेयता मे कुछ पुराने फैशन की, 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की गन्ध आती है, इसलिए उसे प्रयोग करने मे हम थोड़ा-सा हिचकते हैं, उसके बदले प्रासंगिकता *या सार्थकता जैसे आधुनिक शब्द का इस्तेमाल करते हैं ।"*[11] इस बात पर बहस की पर्याप्त गुंजाइश है कि प्रेमचंद की रचनाओं की प्रासंगिकता (सामाजिक उपादेयता—जैसा निर्मल वर्मा ने कहा और थोड़ा तोड़-मरोड़कर कहा) पर चर्चा हो या नहीं, यह भी कि प्रेमचन्द ने जिन समस्याओं का चित्रण अपने लेखन में किया वे आज भी हैं या नहीं । उदाहरणार्थ निर्मल वर्मा ने तो कह दिया कि वे समस्याएं आज नहीं हैं, पर मेरे लिए इस बात से सहमत हो पाना कठिन है । जिस 'महाजनी सभ्यता' से प्रेमचन्द त्रस्त थे, आज वह पहले से कहीं अधिक उग्र

और वीभत्स हो गई है। पिछले दिनों दहेज के कारण हुई हत्या की अनेक घटनाएं, हरिजनों पर ढाए गए जुल्म, साम्प्रदायिकता का फैलता जो रहा जहर, शोषणों का अधिक समर्थ और क्रूर हो जाना, यह सब क्या है ? क्या इसमे और प्रेमचन्द के यथार्थ मे कोई मूलभूत अन्तर है ? मैं तो यह मानता हूं कि इस बात से कोई अन्तर नही पडता कि कल जो शोषण गांव का बोहरा कर रहा था, आज एक पूंजीपति कर रहा है, मिल मालिक कर रहा है। यह मेरे लिए लगभग वैसा ही है जैसा किसी शोषित के नाम का होरी से बदलकर मोणिया हो जाना।

यह बहुत मुश्किल नही है कि अपने कुशल भाषा-छद्म का सहारा लेकर हम मूल बहस को स्थानांतरित कर दें और कहने लगें कि "मेरे लिए कोई भी कृति एक ही अर्थ मे प्रासगिक हो सकती है कि वह समूचे इतिहास की नोक पर एक बार फिर—अपनी पूरी तात्कालिकता, तन्मयता और तीव्रता के साथ मेरे आज के चेहरे को स्वय मेरे लिए अपने भीतर जगा कर पूछ सके—मैं कौन हूं ?"[12] पर निश्चय ही इस भाषा-छद्म मे इतनी ताकत नही है कि यह प्रेमचन्द की सार्थकता और प्रासंगिकता को नकार सके। उस महान् रचनाकार ने आज से 50 वर्ष पूर्व की सामाजिक समस्याओं के पीछे झांककर असली शोषकों को चीन्हा था, बेनकाब किया था। वे ही शोषक आज अधिक सक्रिय, अधिक उग्र हो उठे हैं, वे समस्याएं आज अधिक भयावह हो उठी हैं। प्रेमचन्द की महानता मुझे इस बात में अधिक नही लगती है कि उन्होने समस्त सामाजिक समस्याओ का चित्रण किया, बल्कि इसमे लगती है कि उन्होने समस्याओं के मूल तक पहुंचने मे सफलता प्राप्त की।

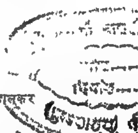
संदर्भ-संकेत :

1. डा० हरदयाल : 'प्रेमचद : एक कृति व्यक्तित्व' आजकल, जुलाई 80, पृ० 3
2. प्रेमचद : कुछ विचार, पृ० 9 व 25
3. वही, पृ० 25
4. वही, पृ० 8
5. शिवरानी देवी : 'प्रेमचद घर मे', विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा सम्पादित 'प्रेमचन्द' मे नरेन्द्र मोहन द्वारा उद्धृत, पृ० 97
6. विनय मोहन शर्मा : साहित्यावलोकन, पृ० 155
7. डा० हरदयाल : 'निर्मला' 'प्रेमचद' स० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 147
8. भैरव प्रसाद गुप्त : 'जनता के कथाकार प्रेमचद'। 'प्रेमचद परिचर्चा : स० कल्याणमल लोढ़ा, पृ० 48
9. वही, पृ० 41
10. नरेन्द्र मोहन : 'प्रेमचद : कृति व्यक्तित्व और कथा ससार' 'प्रेमचद' स० विश० ना० तिवारी, पृ० 97
11. निर्मल वर्मा : 'कला मे प्रासगिकता : एक विवेचन' साहित्यिक हिन्दुस्तान 7 दिस०80, पृ०24
12. वही

आठवें दशक की हिन्दी कविता

प्रान्त के वरिष्ठ कवि श्री नन्द चतुर्वेदी की एक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं—

> "यह समय मामूली नही
> ....
> तूफान मे लोग धीरज और पूरे आत्मबल के साथ
> धिक्कारते है, आततायी, अन्यायी को
> यह समय मामूली नही
> भयाक्रांत लोग, भाषा व्यवहार के
> सारे हिस्से को अपने पक्ष मे करते है
> वे बोलते नही हैं
> लेकिन बोलने वाले की आंख मे आंख डालकर
> करते है सवाल"



लीलाधर जगूड़ी ने भी 'यह वक्त है कि न तुम मुझे सहन कर सकते हो न मैं तुम्हें जीवित छोड सकता हू', इस समय की गैर मामूलियत को रेखांकित किया है। हिन्दी कविता ने इस असामान्य समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढाल लिया है—इस तथ्य का सुखद एहसास विगत की कविताओं के बीच से गुजरते ही होने लगता है। जो हिन्दी कविता स्वाधीनता के बाद अनेक आंदोलनों-नारों का स्वागत करती दिखाई देती थी, वह इस दशक मे आते-आते आंदोलनों-नारों के प्रति सहसा उदासीन हो उठी। उसने मात्र कविता रहने की ठान ली। यो, इस दशक में भी कतिपय काव्यान्दोलन उभरे पर वे कुल मिलाकर 'अकेले कंठ की पुकार' बनकर रह गए।

आठवें दशक की कविता वस्तुतः परम्परा की ही अगली कड़ी है। हालांकि शिल्प, भाषा आदि मुद्दों पर कवि की दृष्टि साफ हुई है और उसने शोषण मुक्ति तथा मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए अपने हथियारों को और पैना तथा अपनी व्यूह रचना को और सतर्क किया है, पर कुल मिलाकर छठे और सातवें दशक में जिस परिवेशगत हिंसा को मुक्तिबोध, धूमिल आदि ने व्यक्त किया था,

आज वही स्वर चीख बन गया है। कुंवर नारायण के शब्दों में—

"डाक्टर ने मेज पर से
आपरेशन का चाकू उठाया—
मगर वह चाकू नहीं
जंग लगा भयानक छुरा था
छुरे को बच्चे के पेट में भौंकते हुए
उसने कहा—
अब यह बिल्कुल ठीक हो जाएगा।"

प्रत्येक कविता अपने से 'पूर्ववर्ती' को नकारने के बावजूद उससे सम्पृक्त रहती ही है। इस दशक की कविता का भी अपने से पहले की 'अकविता' से यही रिश्ता है। अकविता का नितान्त रोमानी व शारीरिक विद्रोह तो अब अस्वीकृत किया जा चुका है पर कवि की विपक्षधर्मिता बरकरार है, अब उसके विद्रोह और विरोध के लक्ष्य राजनीतिक व सामाजिक तत्त्व हैं, राजनीति, लोकतंत्र, इनकी विसंगतियां, मूल्यगत विघटन, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, नैतिक-संवेदनाओं का लोप, भाषा, कविता—ये सारी बातें आज की चिन्ता के विषय हैं। कुछ कविताओं मे स्थितियो के तनाव की बजाय बौद्धिक निष्क्रियता से प्रेरित चतुर प्रदर्शनप्रियता भी है, इन कवियो मे स्थितियों के अतर्क्य, चौंका देने वाले निरूपण, अतिरेकपूर्ण और अविश्वसनीय भाषा-विन्यास, कृत्रिम फन्तासी की बुनावट है और इनकी कविता सही अर्थों मे आज की कविता नहीं है। इसी प्रकार पिछली पीढ़ी के अब भी सृजनरत उन कवियो की कविता भी आज की कविता नहीं है जो प्रेम आदि तथाकथित शाश्वत मूल्यो का चर्वित चर्वण कर शब्दाडम्बर मे समसामयिक जीवन पर अपनी पकड़ के अभाव को डुबो देने का निरर्थक प्रयत्न करते हैं। जिन कवियों को अपने परिवेश से गहरा लगाव है उन्होने न केवल अपने चारों ओर के परिदृश्य को अपनी कविताओ में व्यंजित किया है बल्कि अपनी बात को अवाम तक पहुंचाने के लिए शिल्प के साथ छेड़छाड़ भी की है। कल तक की रोमांटिक व सामन्ती विधा गजल को समसामयिक परिदृश्य का आईना बनाने का दुष्कर काम इसी दशक मे प्रमुखता से उभरा। कवि दुष्यन्तकुमार की गजलो के संकलन 'यहां दरख्तो के साये मे धूप लगती है" मे ऐसी अनेक ग़ज़लें हैं जो आज के हालात का बेबाक बयान करती हैं, मसलन—

"हालाते जिस्म, सूरते जां, और खराब
चारों तरफ खराब, यहां और भी खराब
नज़रों में आ रहे हैं नज़ारे बहुत बुरे
होठों मे आ रही है जुबां और भी खराब
..............."

दुष्यन्त से प्रेरित हो आज हिन्दी में नई गजल की एक व्यापक परम्परा स्थापित हुई है और बड़ी सार्थक गजल लिखी जा रही हैं। एक नये रचनाकार राजेश रंजन की यह गजल द्रष्टव्य है—

"एक औरत, कुछ सिपाही, सिसकियां
अब यही हैं हर सुबह की सुर्खियां
चश्मदीदों की जुबां खामोश है
और गवाही दे रही हैं लाठियां
तिलमिला कर रह गए हैं झोंपड़े
दनदनाती घुस गयी हैं वर्दियां
क्या अजब माहौल इस मुल्क का
आदमी पर बैठती है कुर्सियां

अकविता के ऊल जुलूलपन से गुजरने के बाद अब हिन्दी कवि यह मानने लगा है कि "कविता को कुछ भी सार्थक, विशिष्ट, उत्तेजक, स्फूर्तिप्रद होने के लिए पहले अपनी शर्तों पर कविता होना जरूरी है।" और इसीलिए इस दशक की कविता मे अनपेक्षित विस्तार, असंगत शब्दाचार और बड़बोलेपन के स्थान पर नये संवेदनशील काव्यानुभवों, भीतरी एहसास व निजी, सुचिंतित भाषा का व्यवहार हो रहा है।

समकालीन हिन्दी कविता का रचयिता आमतौर पर मध्यवर्गीय है। उसने विगत तीन-चार दशकों मे स्थितियो को काबू से बाहर जाते देखा है अतः स्वभावतः उसमे हताशा और असहायता की भावना पनपने लगी है, कविता या किसी भी बौद्धिक कर्म के प्रति अनास्था घर करने लगी है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार—

"कुछ निकम्मे लोग
जो ठेकेदारी नही कर सकते
मेम का पेटीकोट नही धो सकते
लिखते रहेंगे कविताएं
और उनके बीवी-बच्चे
राशन, तेल की चिन्ता मे
उन्हे कोसते रहेंगे,
कविता किसी को नही मार सकती
सिवा अपने रचयिता के।"

इस आत्मस्वीकृति के बावजूद आठवें दशक के कवि ने सार्थक और सोद्देश्य काव्य-सृजन किया है। वस्तुतः वह यह मानने लगा है कि मनुष्य की समग्र अनुभूति के नाम पर शुद्ध प्रेम कविताएं लिखना या 'कविता की वापसी' की बात

करना कविता एवं मानव जीवन के विकास-क्रम में अवरोधक होगा क्योंकि प्रेम धीरे-धीरे छलावे मे बदलकर हमारे मनोबल और संकल्प को तोड़ने लगता है, अत: आज के कवि ने शोषित-दमित-पीड़ित व अधिकार-वंचित आम आदमी के मुक्ति प्रयासों को अपना समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया है।

समकालीन परिवेश के सन्दर्भ में इस दशक की कविता की दो स्पष्ट धाराएं दिखाई देती हैं। एक वह जो ऊपर से खुशनुमा दिखाई देने का प्रयत्न करती है और इस तरह अपने समग्र अवसाद-ग्रस्त परिवेश की पहचान से कतराती है, और दूसरी वह जो पहचान को और ज्यादा साफ करती हुई स्थितियों को बदलने का प्रयास करती है। पहली धारा की कविताएं महाजनी सभ्यता की पोषक एव यथास्थितिवादी कविताएं हैं और दूसरी धारा की कविताएं वे है जो इनकी दुश्मन हैं और समाज को बेहतर बनाने के प्रयत्न में अपनी भूमिका अदा कर रही हैं। पहली धारा की कविताओ की चर्चा धूमिल की इन पंक्तियों को दुहराने के बाद अनावश्यक हो जाती है—

पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों
और बैलमुत्ती इबारतों मे
अर्थ खोजना व्यर्थ है।"

इस धारा के निकटवर्ती वे कवि भी हैं जो महाजनी सभ्यता के पोषक तो नही है परन्तु काव्य मे शाश्वत मूल्यों के पोषक अवश्य है। पिछली पीढ़ी के पन्त, महादेवी, अज्ञेय आदि और इस पीढ़ी के उनके समस्त अनुयायी इसी वर्ग मे आते है।

दूसरी धारा की कविता, जो सही अर्थों में आठवें दशक की कविता है, वर्तमान परिवेश के उलझे सूत्रो के बीच से असली निहितार्थों को ढूढ़ निकालने का मुश्किल काम अजाम दे रही है, उसकी कठिनाई यही नही है, विज्ञान की अतिशय प्रगति से मारण की जो नवीन और सूक्ष्मतम विधियां विकसित हो गई है उनका रहस्योद्घाटन, टुच्ची राजनीति, बार-बार पक्ष-परिवर्तन करती हुई व्यावहारिकताओ एवं चरित्र-भ्रष्ट किन्तु गरिमापूर्ण मुखोटाधारी अनैतिक संस्कृति की घर-घर व्यापी विषवायु का पर्दाफाश करने का दायित्व भी उसने ऊपर ले लिया है। इस प्रकार, यातना की धार पर खड़ा कवि व्यक्ति की यातना-मुक्ति के लिए सतत सघर्परत है, वह आदमी को जागरूक बनाने एवं बुनियादी परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध बनाने के लिए जुटा है। उसकी कविताएं आज के आदमी पर ढाये जा रहे अत्याचारो का प्रामाणिक दस्तावेज हैं, लीलाधर जगूड़ी के शब्द हैं—

"तुम्हारा इतना बड़ा हाथ रहा है मेरे पीछे
कि अगर इसको काट दिया जाए
तो पूरे-पूरे चार हाथ बनते हैं
वैसे वह दिखाई कम देता है

कुर्ते की बांह से बाहर
जबकि मैं लगातार तुम्हारी उंगली पर चल रहा हूं
और तुम्हारा हाथ चीज़ों की जड़ तक चला गया है,"

सच तो यह है कि आठवें दशक की कविता निजबद्धता से मुक्त होकर राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों से जुड़ने लगी थी, इस संपृक्ति का अर्थ कुछ कवियों के लिए व्यवस्थागत विसंगतियों का विरोध भी रहा, बकौल चन्द्रकान्त देवताले—

"यह युद्ध सिर्फ एक दृश्य है
उस नाटक का
जिसमे दर्शकों की कोई दिलचस्पी नही है···
पर वे पीठ नही दे सकते
सन्दूक और कागज का टुकडा उनके लिए कोई निर्णय नही
सिर्फ एक मजबूरी है।"

इसके अतिरिक्त, यह कविता समग्र रूप से मानव मूल्यों से सम्बद्ध व प्रेरित दिखाई देती है। सातवें दशक के अन्त और आठवे दशक के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि ये दोनों प्रवृत्तियां अलग-अलग, एक-दूसरे के समानांतर चल रही थी, परन्तु इस दशक में न केवल इन दोनो का द्वैत, अद्वैत मे परिणत हुआ अपितु राजनीति व समाज के प्रश्नों को कविता के लिए वर्जित व गर्हित मानने वाले कवि भी व्यवस्था विरोधी व राजनीतिक कविताएं लिखने के लिए प्रेरित हुए। राजनीति व व्यवस्था को केन्द्रीय विषय मानकर कविता लिखने वाले इस दशक के कवि दो वर्गों में बाटे जा सकते हैं—प्रथम वर्ग में वे कवि आते है जो बिना कोई विकल्प सुझाये व्यवस्था का अन्ध विरोध करते है, और दूसरे वर्ग मे वे आते हैं जो विरोध करने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देते हुए विकल्प भी सुझाते है। श्रीकांत वर्मा, जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन आदि की अधिकांश कविताएं पहले वर्ग की कविताएं हैं, रघुवीर सहाय भी जब 'हंसो, जल्दी हंसो' में विदूषकी मुहावरा अपनाते हैं तो इसी वर्ग में आ बैठते है, इसी प्रकार सर्वेश्वर भी अपनी बहुचर्चित कविता 'कुआनो नदी' में राजनीतिक अमानवीयता और मानव संबंधो के विशृंखलन और शोषित वर्ग की दयनीय स्थितियों का चित्रण कर कविता को सार्थकता की ओर मोड़ते हुए प्रतीत तो होते है परन्तु इन त्रासद स्थितियों का कोई हल न सुझा पाने के कारण पहले वर्ग की चौहद्दी से बाहर नही निकल पाते हैं। ये लोग अपनी असहमति व विद्रोह को एक मैनरिज्म की तरह ओढ़े हुए हैं और इस प्रकार कविता को व्यवस्था के विरुद्ध एक कारगर हथियार बनाने की बात करते हुए भी जाने या अनजाने मे अर्थहीनता के पक्षधर बन जाते है, स्व० मुक्तिबोध ने 'इसलिए जो है उससे बेहतर चाहिए' कहकर सातवें दशक मे ही कविता को क्रांति की प्रक्रिया से जोड़ दिया था, उनके ही समकालीन त्रिलोचन,

केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन अब भी यही कर रहे हैं। नागार्जुन ने काव्योचित गाम्भीर्य और संप्रेषणीयता में संतुलन बनाए रखते हुए अपनी कविता को निरंतर प्रासंगिक बनाए रखा, बिना किसी वाद से स्थायी रूप से बंधे उन्होंने आम आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। व्यंग्य के पैने हथियार का जिस खूबी से उन्होंने प्रयोग किया है, वह अनुकरणीय है, 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी', 'मंत्र कविता', 'क्या हुआ आपको', 'इस बाघिन को', आदि अनगिनत कविताएं इस दशक की बहुचर्चित व स्मरणीय कविताएं हैं। दूसरे वर्ग के समकालीन कवियों मे धूमिल, कुमारेन्द्र, पारस नाथ सिंह, विष्णु चन्द्र शर्मा, जुगमन्दिर तायल, लीलाधर जगूड़ी, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, ऋतुराज, वेणुगोपाल, आलोकधन्वा, ज्ञानेन्द्र-पति, नन्द भारद्वाज, सुधा गुप्ता, मोहदत्त, मणि मधुकर, चन्द्रकांत देवताले आदि अपनी प्रखर प्रगतिशील चेतना के कारण उल्लेखनीय है।

आठवें दशक की कविता ने युग की विसंगतियों को जितनी गहराई से पहचाना उतनी गहराई से पिछले काव्यान्दोलन नही पहचान पाए थे। पिछले 10-12 वर्षों मे कविता और परिवेश के बीच गहरी समझ विकसित हुई है। समसामयिक विडम्बनाओं और जीवन को प्रभावित प्रताडित करने वाली समस्त स्थितियो के प्रति जैसी समग्र प्रतिक्रिया आज की कविता मे व्यक्त हो रही है वैसी पहले की कविता मे कही नही मिलती। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की 'ढुंढिराज' ओमप्रकाश निर्मल की 'कुछ हो रहा है' और इसी तरह की अन्य कविताएं अपने स्रष्टा की रचनात्मक समझ और भाषा की समझ के प्रति आश्वस्त करती हैं। ये कविताएं जीवट और दिलेरी की कविताएं हैं, अक्खड़ता, साहसिकता, ऊर्जा, बेलौस बेलाग अभिव्यक्ति, क्षोभ, उत्तेजना, तनाव और बेचैनी इनके स्थायी स्वर हैं। अभी तक कविता मे आने वाले वस्तु सन्दर्भ, बाह्य उल्लेख या अलंकरण या उद्दीपन मात्र हुआ करते थे पर अब वे अपनी स्वायतता तक में व्यवस्था और व्यक्ति के बीच पल रहे गहरे तनाव को व्यक्ति पर जाते हैं। ज्ञानेन्द्रपति इन पक्तियों में किस सफाई से विचार, अनुभूति और व्यंग्य का सामंजस्य बिठाते हैं—

"मैं यह बात बिना किसी हुज्जत के मान लूगा
कि मेरी पसलियों के दर्द का
आज़ादी से कोई सम्बन्ध नही है
हां, मैं ठीक कहता हूं
आप एक बार कहे और मैं मान लूगा
कि आपकी तोंद का भी
आज़ादी से कोई सम्बन्ध नही है"

लगभग इसी बात को कहते-कहते लीलाधर जगूड़ी जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वह तो और भी ज्यादा तल्ख है—"जिस पर कोई नही खाना चाहता, आज़ादी

एक जूठी थाली है।"

स्थितियों के असहनीय तनाव और त्रास को व्यक्त करने का तरीका हर कवि का अलहदा है, मसलन, मणि मधुकर अपनी बहुचर्चित कविता 'घास का घराना' में ग्राम्य जन के शोषकों को एक-एक कर सामने लाते है और असरदार मुहावरों की आंच में बिम्बों की चौंध से समस्त विसंगतियों को पूरे तनाव, खिंचाव, घुटन और बेबसी के साथ विसंगत भाषा व विसंगत मुहावरे मे बांधते हैं। वे अपनी भाषा को स्थानीय रंग मे रंग कर अपनी कविताओं को अधिक आत्मीय व विश्वसनीय भी बनाते है। मणि के ही काव्य संग्रह 'बलराम के हजारों नाम' की एक कविता 'लड़ाका' की ये पंक्तियां आज की कविता के जुझारू तेवर की अच्छी मिसाल हैं—

"मेरे भीतर जो थक गया है
वह मुझसे लड़ रहा है।
और मैं उसके आगे हाथ जोड़ता हू
भाई, मुझे माफ करो···
लेकिन वह जिद्दी
कहां मानता है मेरी बात
वह जो थकान से चूर-चूर है खुद
मुझ से दिन-रात लड रहा है"

यह लड़ाई अब अपरिहार्य हो उठी है, वक्त ही ऐसा आ गया है—

"जब-जब अन्न और पेट के बीच फासले बढ़ते हैं
नियम ढहते है, पहरे नपुंसक होते हैं
समय की पीठ पर जब भूख सवार होती है,
सल्तनत बदलती, इमारत खण्डहर होती है,
पेट न उपदेश खाता है न व्याख्यान,
पेट न नक्शे चाटता है न योजनाएं।" (रामदेव आचार्य)

इसीलिए सुधा गुप्ता भी लिखती हैं—

"भूख का कोई गणित नही होता,
न देश का उससे नाता है।
जब भी भूख जवान होती है,
रक्त मांगती है।
विश्वास और आश्वासन नही।"

इन्हीं स्थितियों के निमित्त राजकुमार कुम्भज ने सजग होकर विरोधियों को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया है—

"जांचना चाहते हो अगर खुद का

अथवा देश का असली चेहरा
तो उठो
बाजुओं पर बैठे पसीने को तौलिए से पोंछकर
ऊपर उठो
काट दो
आंखो और पांवों के दरम्यान पल रही गुलामी को
और खोल दो उन जंजीरो को
जो बेवजह बांधती हैं
तुम्हारे साहस को ।"

विघटन और विद्रूप से भरे वर्तमान परिवेश मे सार्थक मानवीय अस्तित्व प्रायः असंभव हो उठा है । मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष इसलिए अपरिहार्य हो उठा है—

"लगता है
मैं जब तक इस धरती पर जिंदा हू
चुप न बैठूगा
करूंगा कोलाहल
खोदूगा पहाड
और लड़ूगा अनवरत एक न खत्म होने वाली लड़ाई
जो मेरे और शताब्दी के भविष्य के लिए जरूरी है ।"

(जगदीश चतुर्वेदी)

समकालीन कविता बेमानी आक्रोश की बजाय सुचिंतित विरोध और क्रियाशीलता के पक्ष मे अपनी आवाज बुलन्द करती है । वह प्रत्येक घटना और स्थिति के पीछे झांककर, कार्य-कारण की खोज-बीन कर, उन्हे परस्पर जोड़कर, समाज के इरादों और संरचना के तकाजों को एक साथ वहन कर मौलिक परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ती है । राजीव सक्सेना पूछते है—

"तह दर तह बिछी हुई हिमानी चादर
भरा हुआ पानी
निश्चय ही सफेद सच है सतह पर
क्या यही ध्रुव सत्य है
क्या आज हर बात की तह मे नही जाना होगा
नये सिरे से ?"

इस प्रकार, सत्य से टकराकर, अनुसन्धान कर सार्थक मूल्य परिवर्तन की दिशा मे बढ़ता हुआ स्वर इस कविता का स्वर है। आम आदमी को सम्बोधित यह कविता उसे उत्तेजित ही नही करती, आश्वस्त भी करती है। 'बची हुई पृथ्वी' का

कवि कहता है—

"मैं वहां तुम्हारे दिमाग में
जहां एक मरुस्थल है
आना चाहता हूं
मै आऊंगा
मगर उस तरह नही
बर्बर लोग जिस तरह कि पास आते हैं
उस तरह भी नही
गोली जैसे कि निशाने पर लगती है,
मैं आऊंगा
तो उस तरह
जैसे कि हारे हुए
थके हुए दम आता है।"

सातवें दशक मे मुक्तिबोध ने घोषणा की थी—"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे/तोडने ही होगे मठ और गढ़ सब" और आठवें दशक मे कविता को आम आदमी की कविता बनाने तथा वक्तव्य और आत्मालाप को सार्थक सवाद मे बदलने, स्थिति का विश्लेषण करने की क्षमता प्रदान करने और शब्द को बुलेट की आकृति देने के निमित्त कवि ने भाषा को नया संस्कार दिया है, नरेन्द्र मोहन का आह्वान है—

"आओ शब्दों को ढेलों की तरह उठाकर
जरा गंवार बनना सीखें
चीजों के सामने होकर
देखना पड़तालना सीखें
....
कही से तो शुरू करना ही होगा
'चिकने' और 'गोल' शब्दों को तोड़ने का क्रम
भाषा और कविता को भी
उठाना होगा उस जमीन से
जहां शब्द की मार और धार दीखे
नही दिखे बेशक नही
कारगर होती चले
एक कार्यवाही की मानिन्द।"

कविता में जनभाषा का प्रयोग आज मध्यवर्गीय अन्तर्द्वंद्वों व तज्जन्य कचोटों को उभारने और गुरिल्ला चेतना को तेज करने के उद्देश्य से हो रहा है। कवि के

लिए छन्द, अलंकार, लय, रस इन सबके पुराने प्रतिमान निरर्थक हो चुके हैं, वह अनुभूति के सम्प्रेषण को ही अपनी सबसे बड़ी कसौटी मान रहा है। इसके लिए कभी वह लयात्मकता हेतु तुक व अन्त्यानुप्रास का प्रयोग करता है तो कभी बात को स्मरणीय बनाने के लिए मुहावरा ढालता है, कभी पुराने प्रतीकों और पौराणिक गाथाओं का सन्दर्भ जुटाता है तो कभी एकदम नीचे की धरती से 'मीणिया वल्द भूराजी' को लाता है, फिर भी, सातवें दशक की तुलना मे इस दशक मे कवि का स्वर मन्द मगर गहरा है और वह बारीक बयानी की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। व्यंग्य और फंतासी उसे अधिक प्रिय लगने लगे हैं क्योंकि ये ही परिवेश की बेहूदगियों पर प्रहार करने मे सर्वाधिक सक्षम हैं।

आठवें दशक के समूचे हिन्दी काव्य परिदृश्य पर दृष्टिपात कर संतोष होता है कि अब कविता मानव जाति के भविष्य मे ही विश्वास पैदा नही कर रही है बल्कि भाषा के सूक्ष्मतम संवेगों की दूरगामी पहुंच को भी उजागर कर रही है। आज की कविता जीवन के हाशिये पर ही ठिठक कर नही रह जाती है बल्कि ठीक उसके बीच, अनुभव के निजी दायरे के साथ निकलती हुई मानवीय यन्त्रणा और प्रेम के गहरे संस्पर्शों का ब्यौरेवार जिक्र करती है।

नन्द चतुर्वेदी की ये पंक्तियां इस काव्य-परिदृश्य पर मेरी टिप्पणी की साक्षी हैं—

"तुम्हारे हाथ अभी थके नही हैं
यह कहने का सुख ही इस कविता का कथ्य है।
थोड़े-से दिन और हैं
सहने के
फैलाने के लिए यह हाथ नहीं है।

हिन्दी कविता के दर्पण में भारत की स्वाधीनता

साहित्य अपने समय और स्थितियों का दर्पण होता है। कविता के सन्दर्भ में यह कथन और अधिक प्रामाणिक इसलिए ठहरता है कि गद्यकार विभिन्न कारणों से जिन बातों को कहने मे सकुचाता है, कवि उन बातों को भी लक्षणा अथवा व्यंजना के माध्यम से बेझिझक कह जाता है।

देश की स्वाधीनता की इस वर्षगांठ पर यह जानना सार्थक होगा कि हिन्दी कवियों ने भारत की स्वाधीनता को किस रूप में ग्रहण और चित्रित किया है। राष्ट्रकवि स्व० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्वाधीनता प्राप्ति के बहुत पहले, 1933 में अपनी अमर कविता 'मेरे नगपति मेरे विशाल' लिखकर देश के अतीत का गौरव-गान किया था। दिनकर जी ने 1943 मे 'वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नही है। थककर बैठ गए क्या भाई! मंजिल दूर नही है' गाकर स्वाधीनता-पथ के पथिकों का उत्साह-वर्धन भी किया, परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् जब उनका मोहभंग हुआ, 1954 में उन्होने ही बड़ी वेदना के साथ लिखा—

तो होश करो दिल्ली के देवो, होश करो
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की सांसें
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।

सुपरिचित पत्रिका 'हंस' के जून 1949 के अंक मे प्रकाशित एक कविता में नागार्जुन ने भी लगभग यही बात कुछ दूसरे लहजे में कही थी—

रामराज्य में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है
सूरत शक्ल वही है बिलकुल बदला केवल ढांचा है
नेताओं की नीयत बदली, फिर तो अपने ही हाथों
भारतमाता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।

और इसके बाद तो बकौल आज के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि दुष्यन्त कुमार, आलम यह हुआ कि "हालाते जिस्म, सूरते जां, और भी खराब। चारों तरफ

ख़राब, यहां और भी ख़राब।" यह अप्रत्याशित और आकस्मिक नहीं है कि इस दौर के अनेक काव्य संग्रहों के शीर्षक निराशा, वेदना और नाराजगी का आभास कराते हैं, उदाहरणार्थ—इतिहास दुबारा लिखो, लगभग जयहिन्द, इस हादसे में, रात अब भी मौजूद है, पूरा गलत पाठ, दुखान्त समारोह, तीसरा अंधेरा, कवंध, संसद से सड़क तक, सूर्यास्त, साये में धूप आदि। निश्चय ही सरकारी प्रचार माध्यमों ने स्वाधीन देश की एक चमकीली छवि प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और सरकारी पत्रिकाओं में समय-समय पर कतिपय कवियों की ऐसी कविताएं भी छपती रही हैं जिनमें स्वाधीनता और उसके बाद की जीवन-स्थितियों का गुणगान किया जाता रहा है परन्तु औसत हिन्दी कविता में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के काल की एक धूमिल छवि ही उभरती है। लीलाधर जगूड़ी ने स्वाधीनता के सरकारी चित्रण को नकारते हुए साफ़ ही लिख दिया—

सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
खुशहाली है चारों ओर
कंगाली के पास आटा नहीं
गाली है,
और जिस पर कोई नहीं खाना चाहता
आज़ादी एक जूठी थाली है।

कवयित्री सुधा गुप्ता के शब्दों में, "मेरा देश एक स्वप्न है, हां, एक अधूरा स्वप्न" तो नरेन्द्र मोहन पूछते हैं—"देश के नाम पर। मेरे सामने। रूखी-सूखी पत्तियां क्यों जलने लगती हैं?"

इस प्रश्न का आंशिक उत्तर देने का प्रयास रामदेव आचार्य ने किया है—

मेरे इस महान् गणतंत्र मे
हर लफंगा लखपति है
हर शैतान संत है
हर शिक्षित नौजवान
बेरोजगार है
और हर ईमानदार गुनहगार है।

और धूमिल ने यह बताना चाहा है कि ऐसी त्रासद स्थितियां उत्पन्न हुईं क्यों—"जनतंत्र, त्याग, स्वतन्त्रता। संस्कृति, शांति, मनुष्यता। ये सारे शब्द थे। सुनहरे वादे थे, खुशफ़हम इरादे थे···" और वादों का यही खोखलापन रघुवीर सहाय के इस कवितांश मे भी व्यंजित हो रहा है—

इस जीवन मे
मैं प्रधानमंत्री नहीं हुआ
इस जीवन मे मैं प्रधानमंत्री के पद का

उम्मीदवार भी शायद हरगिज नहीं बनूं
पर होने का अधिकार हमारा है
भारत का भावी प्रधानमन्त्री होने का
अधिकार हमारा है।

हमारे यहां स्वाधीनता के इन वर्षों में वादे खूब किए गए हैं, नारे खूब उछाले गए हैं, उम्मीदें खूब बंधाई गई हैं, पर यथार्थ में सही और अपेक्षित दिशा में बहुत कम काम हो पाया है। शब्दों के इस दुरुपयोग पर लीलाधर जगूड़ी की प्रतिक्रिया है :" 'देश' इन्होंने इतनी बार कह दिया, कि वह अब किसी काबिल नहीं रहा। इन्होंने इतनी बार कह दी 'जनता'। वही अब घटिया लगने लगी है।" और इसी शब्द स्फीति की उपज कैलाश वाजपेयी की यह टिप्पणी है : "लीडर और कुत्ते सबके सब बोलने के मरीज हैं। सबके सब एक-दूसरे की आंखों में बद-तमीज हैं।"

हमारे देश में स्वाधीनता का पूरक है प्रजातन्त्र। देश के नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है। वे प्रतिनिधि विधान सभाओं और संसद में बैठ कर हमारे भाग्य का निर्माण करते हैं। मतदाताओं की संख्या की दृष्टि से हमारा प्रजातन्त्र विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र है। कई आम चुनाव हमारे यहां 'सफलतापूर्वक' हो चुके हैं, परन्तु हिन्दी कवि इस सबसे सन्तुष्ट नहीं है। रामदेव आचार्य ने अपनी एक कविता मे लिखा है—

बड़ा ताज्जुब है कि भूखो मरता
और संविधान को चाटता
एक मुल्क मतदान के मौलिक अधिकार का उपयोग कर रहा है।

सौमित्र मोहन का जाना-पहचाना नायक लुकमान अली "जानता है कि चुनाव लोगों की राय का प्रतीक नहीं, धन और धमकी का अंगारा है।" जैसा मैंने प्रारम्भ में ही कहा, वर्तमान व्यवस्था से हिन्दी के लगभग हर कवि को असन्तोष है, परन्तु ओम प्रकाश निर्मल का असन्तोष कुछ ज्यादा ही तीखा है। अपनी बहुचर्चित लम्बी कविता 'कुछ हो रहा है' में वे कहते हैं—

लेपे हुए अपने नग्न शरीर पर प्रजातन्त्र का लेप
उंगली कर रहा है सपूत अपनी मादरेवतन को···
नाथ ! आपके गणतन्त्र मे 'गण' की मारी जा रही है
समारोहपूर्वक और 'तंत्र' का यंत्र
अपनी बेजान जननेन्द्रिय को सहलाता हुआ
पुरुषार्थ, अधिकार, कर्तव्य, सामर्थ्य, क्रांति की
भ्रांति मे भटकता, विवशता, महसूसता हुआ
चीत्कार कर रहा है।

इस समग्र परिदृश्य ने स्वभावतः कवि को निराश किया है। जिन लोगों से उसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें थी, उन्ही ने उसे निराश, हताश किया है। कैलाश वाजपेयी के इन शब्दों मे उनकी गहन निराशा अभिव्यक्त होती है : "जहां जड़मूर्ख हैं। रचयिता विधान के, और। कुछ विदूषक शासन चलाते हैं। उस निचुड़े देश के। किसी गिरे घर से। एक धड़हीन कठ आवाज देता है। सुनो-सुनो। दूर देश के लोगो—। मुझे शर्म आती है कहते—। कि मैं भारतीय हूं।

इसीलिए वह भविष्यवाणी कर उठता है :
मेरे बाद, शायद
इतिहास अगर राख नहीं हो गया
कोई पढ़ाएगा :
एक वक्त ऐसा भी था आर्यावर्त में
जब बिना बदचलन हुए
कुछ नही मिलता था
रोटी से लेकर शोहरत तक
गन्दी थी हर सड़क'''

परन्तु राहत इस बात से महसूस होती है कि हमारा हर कवि निराश नही है। परिवर्तन की तीव्र अभिलाषा अनेक कवियों की वाणी में मुखरित हुई है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्द हैं—

बैरंग लिफाफों में भर कर
साठ करोड़ अधमरों को
घर, बिच्छुओं टिड्डियों और
तातारों को भेज दिया जाय
अगर जो फिर भी न जगें
उनकी आंखों में अंगुली डाल कर
कानों में भोंपू घुसेड़ कर
कहा जाए
नामुरादो, इन्तजार करने की रस्म पूरी हो चुकी है।

समकालीन हिन्दी कविता को नया मोड़ देने वाली दुष्यन्त कुमार की गजलें यों तो देश की त्रासद स्थितियों के ग्रम मे उदासी का लबादा ओढ़े नजर आती है परन्तु उनमे भी कही-कही आशा की किरणें झिलमिलाती हैं। कोई कारण नही है कि दुष्यन्त का यह शेर पूरे देश को प्रेरणा न दे—

कैसे आकाश में सूराख हो नहीं सकता
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो

और इस शेर के बाद कहने को रह ही क्या जाता है?

'हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है'

समकालीन हिन्दी कविता में दुष्यन्त कुमार (1933-1975) ने एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'सूर्य का स्वागत'(1957) से 'साये में धूप' (1975) तक की काव्य-यात्रा में 'आवाजों के घेरे', 'जलते हुए वन का वसन्त', 'एक कण्ठ विषपायी' महत्वपूर्ण पडाव हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' अपने शिल्प और मिथकीय प्रयोग के कारण अत्यधिक चर्चित रहा है पर दुष्यन्त को सर्वाधिक ख्याति, ऐसी ख्याति जो मात्र शाब्दिक न होकर अनुकृति-प्रेरक तक बन सकी, उनके अन्तिम संग्रह 'साये मे धूप' मे मिली।

'आवाजों के घेरे' और 'एक कण्ठ विषपायी' ने दुष्यन्त को नई कविता के समर्थ हस्ताक्षर के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया था—वही नई कविता जिसने हिन्दी को अज्ञेय, भारती, माथुर, धूमिल और मुक्तिबोध जैसे अनेक समर्थ रचनाकार दिए। नई कविता की सशक्तता के साथ-साथ उसका प्रचार वहां भी बहुत प्रबल रहा और इसलिए भले ही उसकी सम्प्रेषणीयता और बोधगम्यता सदिग्ध एवं विवादास्पद रही हो, आलोचकीय सराहना का उसे कतई अभाव न रहा। यह अलग बात है कि नई कविता में जिन लोगों के दुख-दर्द का चित्रण करने का दावा किया गया, वह उन्हें समझ मे शायद ही कभी आ पाई। दुष्यन्त ने इस बात को बड़ी शिद्दत से महसूस किया। अपने मित्र मदनमोहन मदारिया से एक बार उसने कहा भी, "मित्र, मैं आज की कविता से ऊब चुका हूं। कितनी कट चुकी है यह जिन्दगी और पाठकों से। सब लोग जैसे एक छोटे-से दायरे में घूम रहे हैं। यह कविता कितनी बासी, उबाऊ और अपठनीय है। ऐसे में मैं नई जमीन तोड़ने की कोशिश कर रहा हूं।[1]

दुष्यन्त ने अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए अन्यत्र लिखा, मैं बार-बार महसूस करता रहा हूं कि कविता में आधुनिकता का छद्म कविता को बराबर पाठकों से दूर करता गया है। कविता और पाठक के बीच इतना फासला कभी नहीं था, जितना आज है। इससे भी ज्यादा दुखद बात यह है कि कविता शनैः-शनैः अपनी पहचान और कवि अपनी शख्सियत खोता गया है। ऐसा लगता है, गोया

दो दर्जन कवि एक ही शैली और शब्दावली में, एक ही कविता लिख रहे हैं। इस कविता के बारे में कहा जाता है कि यह सामाजिक और राजनीतिक क्रांति की भूमिका तैयार कर रही है। मेरी समझ में यह वक्तव्य भ्रामक है और यह दलील खोटी है। जो कविता लोगों तक पहुंचती नहीं, उनके गले नहीं उतरती, वह किसी भी क्रांति की संवाहिका कैसे हो सकती है ?"[2]

और इसलिए, 'अपने चारों ओर बुनी जा रही कविता की एकरसता को तोड़ने के लिए' दुष्यन्त ने ग़ज़ल कहना शुरू किया।

उर्दू साहित्य में गज़ल को मुख्यतः प्रेम सम्बन्धी भावनाओं के चित्रण के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। "गज़ल में प्रेम भावनाओं का चित्रण होता है। गज़ल का शाब्दिक अर्थ नारियों के प्रेम की बातें करना है। अतः अच्छी गज़ल वही समझी जाती है, जिसमें इश्को-मुहब्बत की बातें सच्चाई और असर के साथ लिखी जाएं।" फिराक गोरखपुरी ने गज़ल को 'झाड़ी में उलझे हुए हिरन का गीत' कहकर इसकी प्रकृति की ओर इंगित किया है।

"अक्सर गज़ल का हर शेर स्वयपूर्ण होता है। इसके दो बराबर के टुकड़े होते हैं जिनको 'मिसरा' कहते हैं, जिनके शेरों का आखिरी शब्द एक हो और उसके पहले का शब्द एक ही आवाज का हो। उनको एक साथ लिखते हैं और ऐसे पांच से सत्रह शेरों के संग्रह को गज़ल कहते हैं। परन्तु इस संख्या के पालन में उर्दू में कोई ख़ास पाबंदी नहीं है'''हर शेर के अन्त में जितने शब्द बार-बार आएं, उनको 'रदीफ' और 'रदीफ' के पहले एक ही आवाज वाले शब्दों को 'काफिया' कहते हैं, जैसे 'मीर' के इस शेर-'पत्ता पत्ता बूटा-बूटा हाल हमारा जाने है / जाने न जाने गुल ही न जाने बाग तो सारा जाने है' में 'जाने है' रदीफ है और 'हमारा', 'सारा' काफिया है।"[4]

"अक्सर गज़ल के पहले शेर के दोनों मिसरे एक ही काफिया और रदीफ़ में होते हैं : तुम आये हो न शबे-इन्तिजार गुजरी है / तलाश में है सहर बार-बार गुज़री है" (फैज) ऐसे शेर को 'मतला' कहते हैं। अन्त में जिस शेर में शायर का उपनाम (तखल्लुस) हो वह 'मक्ता' कहलाता है—"फैज उनको है तकाजा-ए-वफा हमसे जिन्हें/आशना के नाम से प्यारा है बेगाने का नाम।"[5]

दुष्यन्त ने इस निहायत रोमान्टिक माध्यम को अपनी बात कहने के लिए क्यों प्रयुक्त किया? उन्हीं के शब्दों में, "गज़ल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अक्सर मुझे तंग करती रही, और वह यह कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्जा ग़ालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए गज़ल का माध्यम ही क्यों चुना? और अगर गज़ल के माध्यम से ग़ालिब अपनी निजी तकलीफ को इतना सार्वजनिक बना सकते हैं तो मेरी दुहरी तकलीफ (जो व्यक्तिगत भी है सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठक वर्ग

तक क्यों नही पहुंच सकती"[6] और, "जिन्दगी में कभी-कभी ऐसा दौर आता है जब तकलीफ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आना चाहती है। उस दौर में फंसकर गमे-जानां और गमे-दौरां तक एक हो जाते हैं। ये ग़ज़लें दरअसल ऐसे ही एक दौर की देन है।"[7]

गमे-दौरां का जिक्र करते हुए दुष्यन्त ने साफ़-साफ़ लिखा है—"कथ्य के स्तर पर इनमे मौजूदा हालात की बात कही गई है। जो दृश्य सामने है, वह दृश्य जो सामने होना चाहिए, उसकी जरूरत, समाज का जूझता और टूटता हुआ रूप, राजनीति और राजनीतिज्ञों का मुल्क और समाज के साथ सुलूक, इंसान यानी अवाम की जिन्दगी, जरूरत और उसके खतरे, इन सबको मैंने इन गजलों मे बांधा है और इन संजीदा और भारी-भरकम मुद्दों को सहज से सहज अभिव्यक्ति और सादी से सादी भाषा में बयान करने की कोशिश की है'''मैंने अपनी तकलीफ को, उस शदीद तकलीफ को, जिससे सीना फटने लगता है, ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुचाने के लिए गजल कही है।"[8]

दुष्यन्त के दर्द को उजागर करने के लिए मैं उनकी एक गजल के चन्द शेर यहां उद्धृत कर रहा हूं—

कैसे मंजर सामने आने लगे है
गाते गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।
वो सलीबो के करीब आये तो हमको
कायदे कानून समझाने लगे है।
मौलवी से डांट खा कर अहले मकतब
फिर उसी आयत को दुहराने लगे हैं।
अब नयी तहज़ीब के पेशे नजर हम
आदमी को भूनकर खाने लगे हैं।

समकालीन परिदृश्य पर दुष्यन्त ने बार-बार कोड़े बरसाये हैं—

कहां तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए
कहां चिराग मयस्सर नही शहर के लिए।

या

कैसी मशालें लेके चले तीरगी में आप
जो रोशनी थी वो भी सलामत नही रही।

या

दुकानदार तो मेले में लुट गये यारो
तमाशबीन दुकान लगा के बैठ गये।

या और ज्यादा खुले शब्दों में—

कभी कश्ती कभी बतख कभी जल
सियासत के कई चोले हुए हैं।

कविता की भूमिका के बारे में दुष्यन्त को कभी भी कोई दृष्टिभ्रम नहीं रहा, कविता सदा ही उनके लिए राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक, हर स्तर पर, हर लड़ाई में, एक भरोसे का हथियार रही है इन शेरों मे उनका प्रहार द्रष्टव्य है :

भूख है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ
आजकल दिल्ली में है, ज़ेरे बहस, ये मुद्दआ।

अथवा यह बेबाक टिप्पणी—

कल नुमाइश मे मिला वो चिथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिन्दुस्तान है।

इन्ही स्थितियों के चलते हालत यहां तक बिगड़ चुकी है कि, बकौल शायर—

यू तो चिल्लाया है अक्सर आदमी तकलीफ में
इतनी खामोशी से लेकिन आज तक चीखा न था।

यह चीख अगर राजनीतिज्ञों के छद्मपूर्ण, अमानवीय व्यवहार के विरोध में है तो हमारी अपनी मुर्दनगी के विरोध मे भी है—

क्षत-विक्षत लाश के पास
बैठे हैं असंख्य मुर्दे उदास।
और गोलियों के जख्म देह पर नहीं हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि लाश किसकी है और मुर्दे कौन हैं ? इन गजलों की एक बड़ी विशेषता इनकी बोधगम्यता है। इसके बावजूद दुष्यन्त कहीं-कहीं एकदम अभिधात्मक हो उठते हैं—

सामान कुछ नहीं है फटेहाल हैं मगर
झोले मे उसके पास कोई सविधान है।

समकालीन कविता पर जो दुष्यन्त दर्द के साथ टीका करता है—

वो बात कहां है अब यारों मुझको बतलाओ
जो बात को सीधे से कह दो और निकल जाओ।

वह खुद अपनी ही बनाई कसौटी पर कितना खरा उतरता है, यह जानने के लिए उसकी एक नहीं, अनेक ग़ज़लें उठाई जा सकती हैं। शायद कोई भी ग़ज़ल :

हालाते जिस्म, सूरते जां और भी खराब
चारो तरफ खराब, यहां और भी खराब
नजरों मे आ रहे हैं नजारे बहुत बुरे
होंठों में आ रही है जुबां और भी खराब
सोचा था उनके देश मे महंगी है जिन्दगी
पर जिन्दगी का भाव यहां और भी खराब।

दुष्यंत ने अपनी गजलों में समकालीन जीवन की विसंगतियों, अन्तर्विरोधों, क्रूरताओं, विषमताओं आदि का ही चित्रण नहीं किया, यदि मात्र इतना होता तो दुष्यंत की गजलें मेरे लिए सामान्य ही रहती। जो बात इन गजलों को सामान्य स्तर से ऊपर उठाती है वह है दुष्यंत की मानवीय अस्मिता में अडिग आस्था।

अब किसी को भी नजर आती नही कोई दरार
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तिहार

वर्तमान की इस तस्वीर को देखकर भी दुष्यंत हताश नही होता है, उसके मन मे एक ख्वाब बराबर करवटें बदलता रहता है—

खुदा नही, न सही, आदमी का ख्वाब सही
कोई हसीन नजारा तो है नजर के लिये।

या

एक खण्डहर के हृदय-सी, एक जंगली फूल-सी
आदमी की पीर गूंगी ही सही, गाती तो है :

इस गूंगी पीर को उसने अन्यत्र इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

ये सारा जिस्म झुक कर बोझ से दुहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नही था, आपको धोखा हुआ होगा।

निश्चय ही ऐसे अशआर वही व्यक्ति लिख सकता था जो मध्यप्रदेश शासन का कर्मचारी होते हुए भी बस्तर गोलीकाण्ड जैसे विषय पर कविता लिखे, छपवाये और फिर राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा जवाब तलब किये जाने पर बेफिक्री से कह दे, "आप तो जानते हैं, कविता लिखी नही जाती, हो जाती है।" यह अनायासता ही दुष्यंत की गजलों की सबसे बड़ी शक्ति है। अपनी गजलों के बारे में उसका यह शेर थोड़े में सब कुछ कह देता है—

मैं जिसे ओढ़ता बिछाता हूं
वो गजल आपको सुनाता हूं।

दुष्यंत को कोई भी स्थिति निराश नही करती। वर्तमान बहुत खराब है पर अच्छे भविष्य में उसकी आस्था कभी नहीं डगमगाती, यहां तक कि :

एक बाजू उखड़ गया जब से
और ज्यादा वजन उठाता हूं।

उसकी इस आस्था का भी एक कारण है। उसी के शब्दों में—

मुझ मे रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं
(अतः) हर गजल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।

लेकिन परिवर्तन की उसकी कामना न तो आरोपित विद्रोही भंगिमा की परम्परा में है न निहायत हवाई, अपने नायक को सम्बोधित उसका यह शेर—

ये सहारे भी नही अब, जंग लड़नी है तुझे
कट चुके जो हाथ, उन हाथों मे तलवारें न देख।

उसके सोच की राह को स्पष्ट कर देता है। यही बात इस शेर मे इस तरह स्पष्ट होती है—

मेरे सीने मे नही तो तेरे सीने में सही
हो कही भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।

विद्रोह का परचम उठाते हुए भी दुष्यन्त के मन में अपनी भूमिका को लेकर कोई मुगालता नही रहा। वो लोग कटाकर बछड़ों मे शामिल होने वालो मे से नही था और न उसे इतिहास में अपना नाम लिखाने की, अमर हो जाने की लालसा थी—

सिर्फ हगामा खड़ा करना मेरा मकसद नही
मेरी कोशिश है, कि ये सूरत बदलनी चाहिए।

गद्य मे यही बात उसने अन्यत्र इन शब्दो मे कही है—"मेरे पास कविताओं के मुखौटे नही हैं, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राएं नही हैं और अजनबी शब्दों का लिबास नही है। मैं कविता को चौकाने या आतंकित करने के लिए इस्तेमाल नही करता। उसे इतनी छोटी भूमिका नही दी जा सकती। समाज और व्यक्ति के सन्दर्भ में उसका दायित्व इससे बहुत बड़ा है।"[5]

उर्दू मे जो गजल 'झाड़ी मे उलझे हुए हिरन' की निराशापूर्ण वेदना को अभिव्यक्त करती है, दुष्यन्त के यहा वही गजल उसी हिरन को आशा का संदेश देती है—यह है उसकी विलक्षणता—

इस नदी की धार मे ठण्डी हवा आती तो है
नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है
एक चिनगारी कही से ढूढ लाओ दोस्तो
इस दिए मे तेल से भीगी हुई बाती तो है।

भाषा की दृष्टि से, दुष्यन्त ने अपनी गजलों में एक विशेष दृष्टि का परिचय दिया है। यो तो उनके यहां—

उठा के फेंक दो खिड़की से सागरो-मीना
ये तिश्नगी जो तुम्हे दस्तयाब हो जाए

जैसे शुद्ध उर्दू प्रयोग और

रह-रह आंखों में चुभती है पथ की निर्जन दोपहरी
आगे और बढ़ें तो शायद दृश्य सुहाने आयेंगे

जैसे शुद्ध हिन्दी प्रयोग दोनों ही मिलते हैं परन्तु दुष्यन्त का असली रूप इन दोनों अतियों के बीच है। अपना नजरिया बताते हुए वह कहता है—"उर्दू और हिन्दी अपने-अपने सिंहासन से उतर कर जब आम आदमी के पास आती है तो उनमें फर्क

कर पाना बड़ा मुश्किल होता है। मेरी नीयत और कोशिश यह रही है कि दोनों भाषाओं को ज्यादा से ज्यादा करीब ला सकूं। इसलिए ये गज़लें उस भाषा मे कही गई है जिसे मैं बोलता हूं।[20]

यों तो हिन्दी मे गज़ल की एक सुदीर्घ परम्परा रही है निराला और शमशेर तो इस विधा के अति परिचित प्रयोक्ता है ही। अगर हम उर्दू को भी हिन्दी की एक शैली मान लें तो फिर गजल हमारी अपनी ही विधा ठहरती है। परन्तु स्फुट प्रयोगों के अतिरिक्त हमारे समकालीन काव्येतिहास मे न तो कोई ऐसा कवि दिखाई पड़ता है जिसने गज़ल का इतना व्यापक और बहुविध प्रयोग किया हो और न, इस बात को मैं रेखांकित करना चाहूंगा, ऐसा कोई उदाहरण मिलता है जहां किसी एक कवि के प्रयोग ने पूरे काव्य परिदृश्य को ही बदल डाला हो। दुष्यन्त की सामर्थ्य का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि उनके 'साये मे धूप' के बाद आज हिन्दी का हर कवि गज़ल कहना अनिवार्य समझने लगा है, और गज़ल भी पूर्व परम्परा वाली नहीं, दुष्यन्त की परम्परा वाली। निश्चय ही आज लिखी जा रही अधिकांश गजलें बेहद हल्की हैं पर एक तो इसमे दुष्यन्त का कोई दोष नही और दूसरे, यह तो मानना ही पड़ेगा कि ये गज़ले दुष्यन्त की परम्परा मे आती हैं। एक ओर अब गज़ल की पुरानी परम्परा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है और दूसरी ओर उसी गजल के अवशेषों से, उस मिथकीय पक्षी फ़िनीक्स की भांति नई गजल उभर रही है—

> वे कह रहे है गजलगो नहीं रहे शायर,
> मैं सुन रहा हूं हरेक सिम्त से गजल की ..

सन्दर्भ-संकेत

1. सारिका : मई '76, पृ० 63
2. कल्पना
3. हिन्दी साहित्य कोश : भाग 1, पृ० 278
4. वही : पृ० 292
5. वही : गजल के उदाहरण लेखक द्वारा।
6. कल्पना
7. वही
8. वही
9. 'बदलाव और बेचैनी का कवि' शीर्षक संस्मरण मे श्री अनिलकुमार द्वारा उद्धृत, सारिका : मई 1976, पृ० 85
10. साये में धूप : भूमिका, पृ० 7

(कल्पना वाले समस्त उद्धरण सारिका मई 76 से)
(गज़लों के उद्धरण 'साये में धूप' और सारिका के उपर्युक्त अंक से)

डा० प्रकाश आतुर :
एक अविस्मरणीय व्यक्तित्व

पाप हो या पुण्य हो,
मैंने किया है आज तक कुछ भी नहीं आधे हृदय से
औ' न आधी हार से मानी पराजय,
औ' न की तसकीन आधी ही विजय से ।

जब भी अपने रिकार्ड प्लेयर पर अमिताभ बच्चन की गुरु-गंभीर आवाज में डा० हरिवंश राय 'बच्चन' की ये पंक्तियां सुनता हूं, हर बार एक मोहक आकृति आंखों के आगे झिलमिला जाती है । आत्मीय मुस्कान और गहन आत्मविश्वास से परिपूर्ण डा० प्रकाश आतुर की आकृति । काफी कुछ उस फोटोग्राफ से मिलती जुलती जो कई बरसों से उनके ड्राइंग रूम मे लगा है । फोटो से वे एकदम युवा हैं । फोटो' जैसा मैंने कहा, कई बरसों से वहां लगा हुआ है । लेकिन देह के भारीपन को—जिसे वे यदा-कदा घटा भी लेते हैं—नजर अन्दाज कर दें तो डा० आतुर अब भी हर माने मे उतने ही युवा हैं जितने बरसों पुराने इस फोटो को खिंचवाते वक्त रहे होंगे ।

शायद 58-59 में पहली बार प्रकाश आतुर का नाम सुना था, और उसके एकाध साल बाद कंवरपदा स्कूल के किसी आयोजन में पहली बार उन्हें देखा था—काफी दूर से । तभी से उनके बारे में काफी कुछ सुनने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह आज तक जारी है । उदयपुर ही नहीं, पूरे राजस्थान की जिन्दगी में प्रकाश आतुर एक ऐसी शख्सियत बन चुके हैं जिनकी तारीफ़ की जा सकती है, निन्दा की जा सकती है, पर उपेक्षा कतई नहीं की जा सकती । उनके बारे में काफी कुछ सुनता रहा हूं । मैंने कहा न, कि इस सख्स की उपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती । जब नजदीक से नजदीकतर आने का अवसर मिला तो अनजाने ही यह एहसास हुआ कि उनके बारे में प्रचलित किस्सों और प्रवादों से कितना सत्य है, कितना अर्ध सत्य और कितना असत्य । और आज जब उनके बारे में कुछ पंक्तियां लिखने बैठा हूं तो वे अनगिनत सुनी-सुनाई बातें भी जेहन में तैर रही हैं और निजी अनुभव भी । स्वाभाविक ही है कि मैं निजी अनुभवों को अपने पाठक से बांटना चाहूंगा ।

सातवें दशक में शिक्षण संस्थाओं में अनुशासनहीनता के बादल मंडराने तो लगे थे पर हालात आज जितने नही बिगड़े थे। तब भी एम० बी० कालेज में आतुर साहब की कक्षाएं अपने अनुशासित माहौल के लिए विख्यात थी। एक तो ऐसी नौबत ही नहीं आती, और अगर कभी आ भी जाती तो खूंखार से खूंखार छात्र को बुरी तरह से लताड़ देने में आतुर साहब को ज़रा भी झिझक नहीं होती। और आज भी, जब बकौल रवीन्द्र नाथ त्यागी, 'अध्यापन कर्म पुलिस कर्म से भी ज्यादा रिस्की हो उठा है' आतुर साहब की कक्षाएं उसी छठे-सातवें दशक की-सी हैं। इस चमत्कार के पीछे उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व तो है ही, अध्यापन कर्म के प्रति उनकी अगाध निष्ठा भी है। अपनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद आतुर साहब कक्षा में बिना तैयारी के नही पहुंचेंगे। मुझे अब भी याद है, अपने एम० ए० के दिनों में उनके मध्यकालीन काव्य वाले पर्चे में हमें घर पर सबसे कम मेहनत करनी पडती थी क्योंकि आतुर साहब हमारे हिस्से की मेहनत भी घर से करके ही आया करते थे। निष्ठा उनकी केवल अध्यापन कर्म के प्रति ही नही, अपने छात्रों के प्रति भी है। छात्रो से वे जो काबिले रश्क संवाद स्थापित कर पाते है वह उनके गहन सरोकार की वजह से सम्भव हो पाता है। छात्र अपनी हर परेशानी मे उन्हे अपने पीछे, सहायतातुर पाता है। बात चाहे स्कालरशिप की हो, किताबों की हो, नौकरी की हो, निजी उलझनों की हो—आतुर साहब की सहायता अपने छात्रों के लिए सदा सुलभ रही है। निश्चय ही अपने छात्रों के प्रति इस तरह का लगाव उनके बाद की यानी हम लोगों की पीढी में नही है और तभी हम लोगों को वे सारी समस्याएं भी झेलनी पड़ती हैं जो आतुर साहब के लिए अनजानी हैं। और फिर आतुर साहब का यह सारा व्यवहार एकतरफा है। वे अपने प्रियजन के लिए सब कुछ करना चाहेंगे, परन्तु कभी किसी से किसी भी तरह की अपेक्षा रखते हुए मैंने उन्हें आज तक नही पाया। यही कारण है कि वे किसी से नाराज़ नही होते, किसी का बुरा नही मानते। क्या यह बहुत आसान है ?

ईमानदार अध्यापन असंदिग्ध रूप से एक समयसाध्य कार्य है, परंतु कभी-कभी मुझे लगता है कि आतुर साहब को चौबीस घण्टों से काफी ज्यादा ही वक्त मिलता है। तभी तो वे जाने कितनी बातों के लिए समय जुटा लेते हैं। प्रान्त में हिन्दी कविता को उन्होने एक नया तेवर प्रदान किया है। उनकी कई बार सुनी हुई कविताओं को मंच पर हर बार उतने ही चाव से सुना जाता है। इसमें जितना योग उनके प्रभावशाली पाठ का है उतना ही उन कविताओं के प्रभावशाली कथ्य और विन्यास का भी है। राजस्थान की हिन्दी कविता के तार सप्तक—'सप्त किरण' के प्रकाशन-सम्पादन में उनकी भूमिका सर्वविदित ही है। नई दिल्ली में आयोजित हुए अफ्रो-एशियाई सम्मेलन के कवि सम्मेलन में वे हिन्दी का प्रति-

निश्चित्व कर चुके हैं, रंगकर्मी के रूप में अनेक बार पुरस्कृत—सम्मानित हो चुके हैं—इन सबके साथ-साथ जब पहले 1969 में 'राजस्थान का आधुनिक हिन्दी काव्य' और फिर 1979 में 'राजस्थान की हिन्दी कविता' पुस्तकें प्रकाशित हुई तो सुखद आश्चर्य ही हुआ। इन दोनों पुस्तकों को एक नजर देखते ही इनके पीछे के विपुल श्रम का एहसास हो जाता है। एक व्यापक विषय पर बिखरी हुई सामग्री एकत्रित करना, उसे व्यवस्थित करना और फिर उस सबका तटस्थ मूल्यांकन करना कम श्रम और जोखिम का काम नहीं है। राजस्थान की उपेक्षित रही हिन्दी कविता के महत्त्व स्थापन एवं मूल्यांकन की दृष्टि से ये पुस्तकें ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। 'राजस्थान की कविता' को जब राजस्थान साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला तो स्वभावत: न कोई आश्चर्य हुआ न आलोचना। इस महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण कार्य में आतुर साहब की प्रजा मण्डल से संलग्नता ने एक विशिष्ट आयाम जोड़ा।

'बिन्दु' और 'मधुमती' के सम्पादक के रूप में आतुर साहब प्रान्त के चिन्तन व सृजन को प्रभावित प्रेरित कर चुके हैं। 'मधुमती' का 'अधुनातन परिवेश और सृजन की समस्याएं' विशेषांक उनकी सम्पादन दृष्टि का जीवन्त प्रमाण है। इधर कुछ वर्षों से वे राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष हैं। उनके अध्यक्ष काल में अकादमी ने जो विकास किया है वह अकल्पनीय है। साहित्यकार की गरिमा को अक्षत रखते हुए इस प्रतिष्ठान को उन्होंने जितना विविध आयामी बनाया है उससे राजस्थान का साहित्यकार तो प्रभावित-आह्लादित हुआ ही है, प्रान्त के बाहर के साहित्यकारों में भी इस अकादमी के प्रति प्रशंसा भाव जाग्रत हुआ है। अकादमी को प्रान्त के साहित्यकार के द्वार तक और प्रान्त के छोटे-से-छोटे गांव-कस्बे तक ले जाने के जो प्रयास आतुर जी ने अपने अध्यक्ष काल में किये हैं उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। अकादमी के आंचलिक समारोह, उपनिषद्, प्रसार कार्यक्रम, पाठक मंच, प्रकाशन सहायता, फैलोशिप आदि अनगिनत कार्यक्रम उनकी दृष्टिवत्ता का परिचय दे रहे हैं। अध्यक्ष के रूप में ही वे 'मधुमती' का भी सम्पादन कर रहे हैं और उनके सम्पादन काल के गुलेरी, सेठिया, शुक्ल विशेषांक ही नहीं साधारण अंक भी सग्रहणीय बन पाये हैं, इन सब बातों के पीछे उनकी निष्ठा है। कुल मिलाकर अपने अध्यक्षीय काल में उन्होंने अकादमी को जो गौरव दिलाया है वह अभूतपूर्व है। संभवत: देश में किसी भी अन्य प्रान्त की अकादमी आज इतनी सक्रिय नहीं है जितनी राजस्थान साहित्य अकादमी है। अपवाद स्वरूप मध्यप्रदेश का नाम लिया जा सकता है परन्तु उस वक्त यह भी याद रखा जाना चाहिए कि उनका बजट हम से लगभग दस गुना है। आज राजस्थान का हर छोटा और बड़ा लेखक यहां की अकादमी को अपनी अकादमी समझता है और अकादमी अपने को हर लेखक के लिए समर्पित समझती है तो इसके पीछे

प्रकाश आतुर का सोच और कर्म है।

यद्यपि सक्रिय राजनीति से आतुर साहब का परिचय बहुत पुराना है परन्तु इधर के कुछ वर्षों में उनकी राजनीतिक संलग्नता मे भी वृद्धि ही हुई है। वे कई बरस उदयपुर नगर कांग्रेस (इ) के मन्त्री रह चुके हैं और महज कुछ सौ वोटों से उदयपुर के विधायक निर्वाचित होते-होते रह चुके है। इसमें भी अहम भूमिका उनकी साफगोई और पारदर्शी व्यक्तित्व की ही रही। किसी भी बात को छुपाना उनके स्वभाव मे है ही नही···पर अध्यापन, सृजन, राजनीति, अकादमी—इन सबकी व्यस्तता और अनगिनत भीतरी-बाहरी दबावों के बावजूद प्रकाश आतुर अब भी अपरिवर्तित ही है। वही मस्तमौला तबीयत, वही जिन्दादिली, वही छत-तोड अट्टहास, वही मिजाज की रंगीनी और नफासत-पसन्दगी, वही यार-बाशी। कुछ भी तो नही बदला है। इस बीच बेहद-बेहद प्यारा राजू न जाने की उम्र मे चला गया, पापा गया और फिर अम्मां, प्यारा दोस्त बसन्त गया और गये सुखाड़िया जी, पर आतुर साहब 'कांपी और फिर थिर हो गई पत्ती' की मानिन्द हिल कर फिर स्थिर हो गए। शायद हजारी बाबूद्वारा वर्णित शिरीष की ही भांति मन की मस्ती ही इस आदमी की सबसे बड़ी ताकत है। कभी-कभी तो लगता है कि जैसे वक्त इस शख्स के लिए ठहर-सा गया है। हर बढिया चीज का आज भी आतुर साहब को उतना ही शौक है जितना भरी जवानी में रहा होगा। बढ़िया चीज चाहे वह उम्दा सिली ड्रेस हो, लजीज खाना हो, बेहतरीन सिगरेट हो या कुछ और—अच्छा खाना-पीना और यारबाशी—ये मुझे लगता है उनकी सबसे बड़ी कमजोरिया है। न डाक्टर की हिदायतें उन्हे इनमे रोक सकती हैं और न आर्थिक सीमाए और न चाची (श्रीमती आतुर) और बेटियो, रचना, कविता, सीमा को होने वाली असुविधाओं का खयाल। शायद ही कोई शाम बीतती हो जब उनके घर कुछ लोग खाने पर आमन्त्रित न हों। इतना ही नही, वे हरेक पर आंख मूद कर विश्वास कर लेते है, हरेक को अपना मान लेते है और फिर उसके लिए अपना घर और दिल के दरवाजे पूरे खोल देते हैं—हमेशा के लिए। लेकिन सभी तो उनकी तरह निश्छल नही होते। गुजरे सालों मे इन अपनो में से न जाने कितनो ने उनके विश्वास को तोडा है, पर मजाल है जो एक शिकन भी आतुर साहब की परेशानी पर उभरी हो या उनकी दरियादिली मे कोई फर्क आया हो। अगर कभी किसी ने ऐसा कोई जिक्र उठाया भी है तो अपने भारी-भरकम अट्टहास के नीचे उसे कुचलने में उन्होंने देर नही की है।

इतना प्यारा और नेक इन्सान अपने सम्पर्क मे आने वालों को उजालों की सौगात बांटता रहे, वक्त उसके लिए थमा ही रहे, इससे इतर और क्या चाहा जा सकता है?

साक्षात्कार

राजस्थानी सबद कोस के निर्माता पद्मश्री डा० सीताराम जी लालस से दुर्गाप्रसाद अग्रवाल की बातचीत

राजस्थानी भाषा और साहित्य के प्रेमियों के लिए लालस जी का नाम अपरिचित नहीं है। शब्द—राजस्थानी शब्द ही लालस जी का जीवन बनकर रह गए है। दिन-रात शब्दो की दुनिया में ही विचरते रहते हैं वे। और आज ही नही, एक लम्बा अर्सा बीत गया उन्हे ऐसा करते। आज यह देख-सुन-जानकर आश्चर्य होता है कि लालस जी अपने पांव सीधे नहीं कर सकते, उनके घुटनों ने मुड़ने से इन्कार कर दिया है क्योंकि उम्र का बड़ा भाग उन्होंने डेस्क के नीचे पांव सीधे रख कर शब्द-साधना करते हुए बिताया है। सहसा विश्वास नही होता कि एक दुबले-पतले, अति साधारण से लगने वाले इसी आदमी ने अकेले दम राजस्थानी सबद कोस तैयार किया होगा। घुटनों से कुछ ही नीची धोती, साधारण कुर्ता, लगभग बेतरतीब-सा बंधा साफा और मोटे शीशो का चश्मा। अगर परिचय न हो तो यह मानना मुश्किल है कि यह व्यक्ति ही राजस्थानी शब्द कोश का निर्माता है। पिछले दिनो लालस जी सिरोही पधारे तो मित्र डा० सोहनलाल पटनी के यहां मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे अपनी जीवन-यात्रा के कुछ पृष्ठ मेरे सामने खोलें। अनुरोध करते हुए विश्वास तो कम था कि रात आठ बजे वे मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लेंगे, पर सहजता ही तो लालस जी का पर्याय है। वे फौरन तैयार हो गए। लगभग डेढ घण्टे उन्हे सुनने का सुयोग मुझे, डा० पटनी जी को और साहित्य संस्थान, उदयपुर के उप-निदेशक डा० देव कोठारी जी को मिला। डा० पटनी के निवास-स्थान के उस छोटे-से कमरे मे जैसे एक पूरा युग सिमट आया था। जो बातचीत वहां हुई, उसे शायद एक व्यवस्थित साक्षात्कार न कहा जा सके, क्योंकि मैंने बिना अधिक टोका-टोकी किए, शब्दों के इस निर्माता को निर्बाध अपनी बात कहने दिया है। लालस जी ने कई बार अपने कथनों को पुष्ट करते हुए चारणी शैली मे छन्द आदि भी सुनाये, एक बूढ़ी किन्तु मंजी हुई आवाज मे गाये गए वे छन्द मुझे किसी भी तरह अल्लाह जिलाई बाई की संगीत

स्वर-धार से कम न लगे परन्तु यहां उस माधुर्य को शब्दबद्ध करने में असमर्थ पा मैं केवल गद्य भाग ही प्रस्तुत कर रहा हूं।

इधर-उधर की चर्चा के बाद मैंने पहला प्रश्न किया—

दुर्गाप्रसाद : आपका 'राजस्थानी सबद कोस' एक ऐतिहासिक महत्त्व की कृति है। भारतीय भाषाओं के शब्द कोशों में भी उसका स्थान अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। मैं यह जानना चाहूंगा कि इतना बड़ा और ऐतिहासिक महत्त्व का काम करने की प्रेरणा आपको कैसे मिली?

लालस जी : साहित्यानुराग मेरी पारिवारिक धरोहर है। मेरे नाना जी सादुलसिंह जी बोग सा अपने वक्त के राजस्थानी व डिंगल के अधिकारी विद्वान थे। वैसे शब्द कोश के लिए मैं प्रेरक पुरुष श्री हरिनारायण जी पुरोहित जयपुर वालों को मानता हूं। बात सन् 1932-33 की है। कुछ पुस्तकों के सम्पादन के सिलसिले में पुरोहित जी ने मेरे पास बूंदी के कवि राजा मुरारीदाकृत 'डिंगल कोश' भेजा। यह कोश संस्कृत के 'अमर कोश' के ढांचे पर था जिसमे शब्दों को पर्यायवाची या अर्थक्रम मे सूचीबद्ध किया जाता है। नवीन कोश कला इस ढांचे को छोड़ चुकी थी, क्योंकि वर्तमान मे इस ढांचे की उपयोगिता नही रह गई थी। मैंने पुरोहित जी को उक्त डिंगल कोश की आलोचना करते हुए एक पत्र लिख दिया। पुरोहित जी क्योंकि कार्य-पूजक थे, उन्हे यह आलोचना रुची नही। उन्होंने मुझे फटकार लिखी—"कोश बनाना दुष्कर काम है, आलोचना आसान है। करके दिखाओ। अभी दिल्ली बहुत दूर है।" पुरोहित जी की यह प्यार भरी फटकार ही मेरी प्रेरणा बन गई और उनके शब्द मेरे दिल में इतनी गहराई में पैठ गए कि आज भी अक्सर याद आ जाते हैं। मैंने अपने निजी संग्रह से डिंगल की पुस्तकें उठाईं और नवीन पद्धति के शब्द कोश के लिए शब्द संग्रह करना शुरु कर दिया।

दुर्गाप्रसाद : आपका संग्रह किस तरह की पुस्तकों का है?

लालस जी : वैसे उनकी विषयवार सूची तो नही है, लेकिन अधिकतर पुस्तकें डिंगल की है। मैंने उनमें से 'सूरज प्रकाश' पुस्तक के शब्द लिए और उन्हे अक्षर-क्रम से जमा कर पुरोहित जी के पास ले गया। देखकर पुरोहित जी बहुत खुश हुए और मेरे कोश को नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित करवा देने का आश्वासन भी दिया।

दुर्गाप्रसाद : जब आपने कोश निर्माण का यह कार्य हाथ में लिया तब क्या आपके मन मे कोई आदर्श कोश था?

लालस जी : मेरे दिमाग मे आदर्श कोश शब्द सागर ही था। या आप्टे की

डिक्शनरी थी मेरे पास। आप्टे की बड़ी डिक्शनरी तो नही है, पर छोटे सभी भाग हैं। और भी बहुत-से कोश हैं।

दुर्गाप्रसाद : कोश विज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन भी आपने किया?

लालस जी : हां, वरना मैं अपने कोश मे भाषा को एकरूपता दे ही नही सकता था। मेरे पास भाषा विज्ञान की जो पुस्तकें थी, उनको भी मैंने आधार बनाया है। यह बात मैंने भूमिका मे स्पष्ट की है।

दुर्गाप्रसाद : आपने जब कोश का काम शुरू किया तब क्या इसी तरह के कुछ अन्य प्रयास भी हो रहे थे? यदि हां, तो उनकी क्या परिणति हुई?

लालस जी : कोश का काम मैंने शुरू किया, पुरोहित जी का आश्वासन भी था, लेकिन मुझे मेरे कोश के प्रकाशन की आशा बहुत ही कम थी। अलबत्ता इसी तरह के कुछ प्रयास कुछ साधन सम्पन्न लोग भी तब कर रहे थे। उनमे से एक मुझे याद है सर सुखदेव और रामकरण जी का काम। पण्डित रामकरण जी मारवाड़ी के जानकार थे, कोश और व्याकरण मे रुचि रखते थे, और उन्हे सर सुखदेव, जो कि जोधपुर के प्राइम मिनिस्टर रह चुके थे, का पूरा सहयोग प्राप्त था। इन दोनों सज्जनो ने 12-15 साल मे 40 हजार शब्दों का संकलन तैयार किया।

दुर्गाप्रसाद : और आपका काम भी उनके समानान्तर जारी रहा?

लालस जी : हां, मेरा काम भी चालू रहा। निकलने की आशा नगण्य थी पर पुरोहित जी की प्रेरणा भी कम नही थी। सर सुखदेव के लिए यह काम जितना आसान था, मेरे लिए उससे कही अधिक कठिन था। रामकरण जी के पास एक स्टाफ काम करता था, मेरे पास लिखने को कागज भी नही था। फिर भी, अपने कुछ विद्यार्थियो की मदद से मैं काम आगे बढ़ाता रहा। इसी दरम्यान सर सुखदेव की मृत्यु हो गई और रामकरण जी का कोश बन्द हो गया।

दुर्गाप्रसाद : फिर?

लालस जी : मैं तो अपना काम कर ही रहा था। इस बीच सन् 1945 मे पंडित हरनारायण जी का भी देहान्त हो गया। अपने राम घबरा गए और अपने सभी मित्रों को पत्र लिखे। एक पत्र उदयराज उज्ज्वल को भी लिखा। वो मित्र थे, वयोवृद्ध थे, राजस्थानी भाषा साहित्य के हितैषी थे। उन्होंने पोकरण ठाकुर भवानीसिह जी से इस बारे में जिक्र किया। ठाकुर साहब ने मेरा किया हुआ काम देखा, देखकर उसे संक्षिप्त करने की सलाह दी। तब मैंने उदाहरण हटाकर एक लाख दस हजार शब्दों को अलग कर दिया। इतना करने के बाद

भी पोकरण ठाकुर साहब और उदयराज जी में पता नहीं क्या बात हुई कि उन्होंने काम रुकवा दिया।

दुर्गाप्रसाद : क्या यह किया-कराया काम यही रुक गया ?

लालस जी : रुक ही गया होता, अगर कुछ महानुभावों ने ऐन वक्त पर मदद न की होती। इनमे से एक थे मेरे मित्र गोरधन सिंह जी, आई० ए० एस०। ज्यादा सही होगा, अगर मैं यह कहूं कि कोश की कहानी हम दोनों की दोस्ती की कहानी है। मैंने गोरधन सिंह जी से जिक्र किया। उन्होंने निम्बाज ठाकुर उम्मेद सिंह जी से मेरी बात चलाई। उम्मेद सिंह जी ने मुझे बुलाया और काम को आगे बढ़ाने का आश्वासन दिया। लेकिन दो-तीन बार के आने-जाने से मुझे लगा कि इस खर्चीले काम को उसने शुरू तो करवा दिया है पर इससे उसे व्यक्तिगत परेशानियों का सामना करना पड़ेगा, अत: मैंने खुद ही उसके पास जाना छोड़ दिया।

दुर्गाप्रसाद : तो क्या काम रुका ही रहा ?

लालस जी : नही। इन्ही दिनों एक और बात हुई। बीकानेर में सार्दूल राजस्थानी इन्स्टीट्यूट खुला और उसके प्रेसीडेण्ट रामसिंह जी हुए। रामसिंह जी और उनके साथी धर्म नारायण जी के पास गए और उनसे सर सुखदेव और पं० रामकरण जी का शब्द कोश जैसा था, वैसा ही खरीद लाये। शायद उनका इरादा इन्स्टीट्यूट से उसे प्रकाशित करने का था। इन्स्टीट्यूट के सदस्यों को मेरे काम के बारे में भी मालूम था। तब उनमें से नरोत्तमदास जी ने मेरे को पत्र लिखकर मेरे शब्दो का नमूना मंगवाया। मैंने एक हजार शब्द उन्हें भेज दिए। देखकर इन्स्टीट्यूट वालों ने प्रस्ताव रखा कि मैं काम चालू रखूं और इसी तरह शब्द भेजता रहूं। इन्स्टीट्यूट मुझे प्रति हजार शब्द तीस रुपये देगी और सम्पादक मण्डल मे भी कहीं मेरा नाम रखा जायेगा।

दुर्गाप्रसाद : और आपने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ?

लालस जी : हां, और मैंने तिरेसठ हजार शब्द भेज भी दिए। इतना करके मैंने उनसे यह जानना चाहा कि सम्पादक मण्डल में मेरा नाम 'कहीं' कहा रखा जाएगा ? उनका उत्तर निराशाजनक था, अतः मैंने शब्द भेजने बन्द कर दिए और सार्दूल राजस्थानी इन्सटीट्यूट का वह कोश वहीं बन्द हो गया।

दुर्गाप्रसाद : फिर आपके काम का क्या हुआ ?

लालस जी : मेरे काम की प्रगति तो रुक ही गई, बीकानेर वालों को जो करके दिया था, उसको भी वापस करने की नौबत आ गई। 1932 में

कोश का काम शुरू किया था और यह 1954-55 की बात है। इसी बीच मेरे मित्र गोरधन सिंह जी का तबादला जालौर कलक्टर के पद पर हो गया। जालौर जिले में रोड़ला गांव के ठाकुर कर्नल श्याम सिंह जी को मेरे बारे में गोरधनसिंह जी ने बताया। श्यामसिंह जी रामभक्त थे, साहित्यप्रेमी थे और बहुत ही सज्जन पुरुष थे। कोश के आगे की मीनार इसी स्तंभ के बूते पर खड़ी हो पाई। श्याम सिंह जी ने मुझे बुलाकर कोश की पूरी जानकारी चाही और ईश्वर के बूते पर समर्पण भाव से काम चालू रखने की सलाह दी। उन्होंने कागज आदि के खर्च के लिए 50 रुपया माहवार अपनी तरफ से देना भी स्वीकार किया। कोश का रुका हुआ काम फिर चल पड़ा और अगले डेढ़ साल में, शब्दों की जो अठारह लाख स्लिपें तैयार थी उनको सन्दर्भों के साथ अक्षर-क्रम में जमा कर रजिस्टरों में रख लिया। भूमिका में भूल से यह संख्या आठ लाख छप गई है। 22 महीनों में ये सारे रजिस्टर तैयार हो गए। अब प्रेस कापी बनानी शेष थी। इसी बीच श्यामसिंह ने सलाह दी कि कोश का अवलोकन नित्यानन्द जी से करवा लिया जाए। नित्यानन्द जी मेरे गुरु भाई थे, संस्कृत के अनन्य विद्वान थे, व्याकरण और भाषाविज्ञान पर उनका पूरा अधिकार था। उन दिनों वे उम्मेद भवन पैलेस में पुस्तक प्रकाश के अध्यक्ष थे। श्याम सिंह जी और गोरधन सिंह जी ने उम्मेद भवन के अधिकारियों से बात कर मेरे रोज वहां आने-जाने की स्वीकृति भी ले ली। यही नहीं, श्याम सिंह जी ने आने-जाने का वाहन व्यय भी अपने पास से दिया। नित्यानन्द जी संशोधन कर रहे थे और साथ-साथ प्रेस कापी भी बन रही थी। अब समस्या प्रकाशन की थी।

दुर्गाप्रसाद : अब तक राज्य अथवा केंद्र सरकार से आपको कोई मदद नहीं मिली?

लालस जी : नहीं। पर आगे का काम सरकारी मदद के बिना पूरा होना संभव नहीं था।

दुर्गाप्रसाद : सरकारी मदद कब और कैसे मिलनी शुरू हुई?

लालस जी : 1958 में, मुझे याद है, नवम्बर या दिसम्बर का महीना था। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री हुमायूं कबिर उदयपुर आए थे। तब तक मेरे कोश की चर्चा समाचारपत्रों में हो चुकी थी और तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने भी इसमें रुचि लेनी शुरू कर दी थी। तो, सुखाड़िया जी ने मुझे कहलवाया कि मैं कोश का रजिस्टर लेकर उदयपुर आ जाऊं, तब तक मैं मित्रों की सलाह से कोश का प्रकाशन कार्य शिक्षा समिति, चौपासनी, जोधपुर को दे चुका था। उदयपुर

में हुमायूं कबिर ने जब यह कोश देखा तो उन्होंने कहा कि भारतीय भाषाओं के विकास के लिए उनके मन्त्रालय के पास एक योजना है जिसके अन्तर्गत कोश का प्रकाशन सम्भव है। योजनानुसार कोश के प्रकाशन-व्यय का एक तिहाई केन्द्र सरकार देगी, एक तिहाई राज्य सरकार दे और शेष एक तिहाई वह संस्थान देगी जो इसे प्रकाशित करवा रही है। सभी लोग वहां मौजूद थे। बात तै हो गई। अनुदान के लिए आवश्यक कार्यवाही की गई। राशि स्वीकृत होकर आ गई। यह बात बीकानेर के सार्दूल इन्स्टीट्यूट वालों को भी मालूम पड़ी। उनके पास मेरे भेजे हुए शब्द थे ही, उन्होने वो काम दिखाकर बीकानेर के एक अधिकारी की मदद से वो पैसे उठा लिए। हम फिर खाली हो गए।

दुर्गाप्रसाद : यानी यह अनुदान आपको नही मिल सका?

लालस जी : नही। गोरधन सिंह जो फिर सुखाड़िया जी के पास गये और उन्हें सारी बात बताई। सुखाड़िया जी ने कोशिश करके उतना ही अनुदान हमें दिलवाया और हमारा काम शुरू हुआ।

दुर्गाप्रसाद : कोश की पहली जिल्द कब प्रकाशित हुई?

लालस जी : 1962 मे। लेकिन इस बीच एक हादसा और हुआ जिसने कोश का प्रकाशन रोक दिया। एक व्यक्ति जिसका नाम लेना मे उचित नही समझता हूं, कोश की जिन्दगी मे मात्र अड़चनें डालने के लिए ही आया। कोश का सम्पूर्ण कार्य मेरे हाथ से होना उसके लिए अप्रिय घटना थी। उसने मेरे मित्र उदयराज जी उज्ज्वल को भड़काया और शब्द कोश पर दीवानी मुकद्दमा दायर कर दिया। प्रकाशन फिर रुक गया। मैं उदयराज जी से मिला, अनुनय-विनय की और उनको समझाया कि दोस्तों के प्रति आभार व्यक्त करने की शैली में उनको लिखे मेरे पत्रों का दुरुपयोग कर वो कुछ भी हासिल नही कर सकेंगे, सिवा बदनामी के। लेकिन बात बनी नहीं, मुकद्दमा चला और पंचायती फैसले ने मेरे जीवन की साधना को शोध संस्थान की संपत्ति घोषित कर दिया। बदले में मुझे लगभग 13 हजार रुपये का और उदयराज जी को 6 हजार रुपये का भुगतान किया गया। यह एक कुटिल सरगने का षड्यन्त्र था जिसने मेरे और उदयराज जी के मध्य मतभेद पैदा किये और कोश पर अधिकार करने का असफल प्रयास किया। कोश जब तक पूर्ण प्रकाशित नहीं हुआ तब तक वह यह प्रयास करता रहा कि कोश के काम को रुकवा दे, सीताराम की मेहनत को हथिया ले और येन केन प्रकारेण प्रधान सम्पादक न

सही, सम्पादक तो बन ही जाए। ये बातें विजयदान देथा और कोमल कोठारी को भी मालूम थी। इन दोनों सज्जनों ने समय-समय पर मुझे उसकी कुटिल चालों से बचाने के भरसक प्रयास किए। इसीलिए मैं मानता हू कि कोश के प्रकाशन में इनका सहयोग अविस्मरणीय है।

दुर्गाप्रसाद : कोश के प्रकाशन का एक तिहाई खर्च किस संस्था ने मुहैया किया ?

लालस जी : यह खर्च शिक्षा समिति को वहन करना था जो समिति के माध्यम से विभिन्न सज्जनो ने किया। इसी प्रसंग में एक बात और याद आ गई, प्रारम्भ मे शिक्षा समिति के पास कोश के लिए पैसा नही था। तब इस कार्य के लिए झालावाड़ इन्वेस्टमेण्ड ट्रस्ट ने पांच हजार रुपये का ऋण शिक्षा समिति को दिया। यह ऋण शिक्षा समिति ने एक व्यक्ति (ऊपर उल्लिखित) के माध्यम से शोध संस्थान को दे दिया। लेकिन मुझे दुख के साथ कहना पड रहा है कि यह पैसा न तो कोश में खर्च हुआ न ट्रस्ट को वापस मिला। कागजी हेराफेरी से यह रुपया गायब कर दिया गया। इतना ही नही, कोश की प्रथम जिल्द की बिक्री से जो पैसा शोध संस्थान को मिला उसका भी समुचित उपयोग कोश के लिए नही किया गया। कोश के आय-व्यय का कार्य मेरे हाथ मे नही था, इसीलिए यह हो रहा था।

दुर्गाप्रसाद : तो यह व्यवस्था बदली कैसे ?

लालस जी : मजबूर होकर हमे शब्द कोश की उपसमिति अलग बनानी पड़ी तथा श्याम सिंह जी इसके सचिव होकर इसका काम देखने लगे। इसी बीच हमे एक और सज्जन पुरुष की सहायता मिली जिनका उल्लेख जरूरी है। ये थे तत्कालीन शिक्षा निदेशक श्री अनिल बोदिया। इस भले मानुस ने कोश की आवश्यकता समझते हुए अलग से कोश के स्टाफ की तनख्वाह की सरकारी मदद देना प्रारम्भ करवाया और हमें बड़ी भारी मदद मिली।

दुर्गाप्रसाद : यानी अब कोश की व्यवस्था ठीक हो गई ?

लालस जी : श्याम सिंह जी के जीवन-काल तक तो ठीक रही। उनका भी देहान्त 1968 मे हो गया। इसके बाद कोश की व्यवस्था मे उसी व्यक्ति ने फिर घुस-पैठ शुरू कर दी। वह चाहता था कि कोश का लेखा-जोखा शिक्षा समिति के साथ मिलाकर कोश को आर्थिक दृष्टि से विपन्न कर दिया जाए जिससे इसका प्रकाशन रुक जाए। मुझे मजबूरन तत्कालीन शिक्षा मन्त्री चन्दनमल जी को इस मामले से अवगत कराना पड़ा। उन्होंने शिक्षा समिति को लिखित चेतावनी

दी कि शब्द कोश के कार्य में किसी प्रकार की अड़चन सरकार सहन नहीं करेगी। यदि इस तरह की कार्यवाही बन्द न हुई तो मजबूरन सरकार को शिक्षा समिति की एड रोक देनी पड़ेगी।

दुर्गाप्रसाद : तब तक कोश के कितने खण्ड आप निकाल चुके थे ?

लालस जी : तीन जिल्दे तब तक प्रकाशित हो चुकी थी। चौथी जिल्द प्रेम मे थी। इस बीच उस व्यक्ति ने प्रेस मे भी घुसपैठ की। कोश अब तक साधना प्रेस में छप रहा था। मुझे लगा कि साधना प्रेस की व्यवस्था में भी जान-बूझकर गड़बड़ी की जा रही है, अन्त में साधना प्रेस ने ही स्वयं कार्य छोड़ दिया। फिर हमें तीन-चार प्रेस बदलने पड़े। एक तो कोश का काम ही मुश्किल था, दूसरे जिस प्रेस में हम जाते विरोधी भी पीछे-पीछे चले आते और अड़चनें डालते। किसी तरह 1978 तक मैंने कोश पूरा किया। इस बीच प्रथम खंड की प्रतियां समाप्त हो गई तो मुझे उसके पुनर्मुद्रण की जरूरत पड़ी। कोश के हितैषियों की इच्छा थी कि यह काम भी मैं ही करवाऊ, अतः मैंने करवाना शुरू किया। सरकार ने भी मेरी मदद की, लेकिन ऐसा लगता है कि शिक्षा समिति मेरे से पीछा छुड़ाना चाहती थी, इसलिए गैर-कानूनी ढंग से मुझे हटा दिया गया और राजस्थानी भाषा-साहित्य से अनभिज्ञ एक व्यक्ति को सम्पादक बना दिया। परिणामतः बहुत भूलें हो रही है। पुनर्मुद्रण तो हो रहा है पर कार्य बिगड़ रहा है। शिक्षा समिति को भद्दा लग रहा है। मुझे भी दु:ख होता है, पर सब कुछ जानकर भी मजबूर हूं। कुछ भी नही कर सकता।

दुर्गाप्रसाद : सरकार भी मौन है ?

लालस जी : सरकार के काम करने की सीमाएं होती हैं। सरकार तक सारी बातें पहुंच भी नही पाती है। लेकिन इस मामले में कुछ लोगों व कुछ अखबारों ने सरकार तक बात पहुंचाई है। मुझे आशा है कि कार्यवाही होगी।

दुर्गाप्रसाद : अपने संक्षिप्त कोश के बारे मे भी कुछ बताइए।

लालस जी : संक्षिप्त कोश मैंने लिखा है और वह प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के पास प्रकाशनाधीन है। पर वह भी स्थानीय अधिकारियों की लापरवाही का शिकार हो रहा है। छोटी-छोटी अड़चनें डालकर इन लोगों ने ढाई साल निकाल दिए, अभी तक प्रकाशन शुरू नही हुआ।

दुर्गाप्रसाद : आपके मूल कोश में लगभग दो-ढाई लाख शब्द हैं। संक्षिप्त कोश में कितने शब्द हैं ?

लालस जी : संक्षिप्त में उससे ज्यादा हैं क्योंकि मूल में जो शब्द छूट गये थे वो भी मैंने इसमें ले लिए हैं। ज्यादा इसलिए आ सके हैं कि इसमें उदाहरण, मुहावरे व विशेष विवरण नहीं है। यह कोश अलग तरीके से तैयार किया गया है।

दुर्गाप्रसाद : इतनी लम्बी यात्रा रही, इसमें अनेक कड़वे अनुभव आपको हुए, कुछ मीठे भी, लेकिन इन अनुभवों को जरा एक तरफ रखते हुए—गोकि ऐसा करना मुश्किल होगा—जब आप अपने काम पर दृष्टिपात करते हैं, कोश की सारी जिल्दें आपके सामने होती हैं, तो कैसा लगता है ? क्या उनमें किसी सुधार की गुंजाइश नजर आती है ?

लालस जी : कोश में संशोधन की गुंजाइश तो कम ही है। पर कुछ शब्द छूट गए हैं। उन शब्दों को जोड़ना चाहिए।

दुर्गाप्रसाद : अब कोश से हटकर एक बात। आपने इतनी जबरदस्त साधना की हमारी पीढ़ी भी आपके सामने है। क्या आपको ऐसा लगता है कि यह पीढ़ी भी उतनी ही मेहनत करने को तैयार है ? इस पीढ़ी में कहीं आपको अपना बीता हुआ समय नजर आता है ?

लालस जी : आजकल मेहनत करने वालों की कमी है। नई पीढ़ी में शार्टकट का फैशन चला हुआ है। वो फायदा ज्यादा चाहते हैं, काम कम करते हैं, त्याग कम करते हैं। फिर भी असम्भव कुछ भी नहीं है। कोई तो त्यागी हो ही सकता है।

दुर्गाप्रसाद : एक और प्रश्न मेरे मन में है। राजस्थानी भाषा आन्दोलन की इतनी बातें होती हैं। आपको लगता है क्या कि केवल आन्दोलन से राजस्थानी का भला होगा ?

लालस जी : राजस्थानी तो अब होगी, जरूर होगी।

दुर्गाप्रसाद : आप यह मानते हैं कि अपनी भाषा के लिए खून-पसीना बहाने का कोई प्रयत्न आज की पीढ़ी नहीं कर रही है, और यह भी कह रहे है कि राजस्थानी जरूर होगी। ऐसा कैसे सम्भव है ?

लालस जी : युग ऐसा ही है। युग है हुल्लड़बाजी का। हुल्लड़बाजी तो हो रही है। होगा।

दुर्गाप्रसाद : एक सीधा प्रश्न—अब क्या जरूरतें हैं हमारी राजस्थानी के विकास के लिए ?

लालस जी : होना तो यह चाहिए कि सारे घरों में राजस्थानी बोली जाये, बच्चे राजस्थानी बोलें।

दुर्गाप्रसाद : आपकी इन दिनों की दिनचर्या ?

लालस जी : मैं सुबह दो बजे उठता हूं और सायं 8-00 बजे सो जाता हूं। इस

कोश को बढाने के साथ-साथ कुछ आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन मे लगा हूं। गीता का अध्ययन कर रहा हूं। स्मरण शक्ति जरूर कुछ कम हो गई है।

मैंने अपनी घड़ी पर नजर डाली। लालस जी के शयन के अल्प समय में से भी डेढ़ घण्टे का उपहरण मैं कर चुका था। अच्छा नही लगा कि इस मनीषी को और ज्यादा तक़लीफ दूं, धन्य-वाद देते हुए विदा ली।

बातचीत

ग़ज़लों की दुनिया के दो सुरीले हमसफर : राजकुमार रिज़वी और इन्द्राणी रिज़वी

भारतीय सुगम संगीत मे पिछले दिनो दो चीजें बेहद चर्चित रही हैं—गजल गायकी और डिस्को। अतर बस इतना रहा कि डिस्को का दीवानापन अचानक बढ़कर अचानक घट गया है, जबकि गजल का नशा आहिस्ता-आहिस्ता चढ़ा, लेकिन अभी उसके उतरने के कोई खास आसार नजर नहीं आ रहे। गजल के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि अनेक जोडियां लोकप्रिय हुई। जगजीत-चित्रा, राजेन्द्र-नीना और राजकुमार-इन्द्राणी आदि। निश्चय ही इनमे से हरेक की गायकी की अपनी विशेषता है, अपना रंग है।

राजस्थान के झुझुनु जिले के मुंडावा गांव में संगीतकारों के परम्परागत कलावन्त घराने मे जन्मे राजकुमार रिजवी (जन्म 1946) ने संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता उस्ताद नूर मोहम्मद साहब से ली। बाद में बहनोई जमालुद्दीन भारती और विख्यात सुशील कुमार सक्सेना से भी संगीत की शिक्षा ली। रिजवी साहब अपने को मेहदी हसन का भारत में प्रथम शिष्य भी मानते हैं। प्रसंगवश, मेहदी हसन भी इसी मुडावा गांव के रहने वाले हैं, और राजकुमार के चाचा हैं। राजकुमार की मुलाकात इंद्राणी चटर्जी से रूस की धरती पर हुई। मुलाकात प्यार और नजदीकी मे बदली और उसकी परिणति हुई एक सफल, क्रांतिकारी विवाह मे। गो कि जाति-धर्म परम्पराओ आदि के बन्धनों ने इनके प्यार को शादी तक पहुंचने मे खूब रुकावटें डाली। एलोकेशी इंद्राणी ने दिल्ली विश्वविद्यालय से शास्त्रीय संगीत में एम० ए० की उपाधि ली है, प्रथम श्रेणी मे सर्वप्रथम रहकर। लेकिन सुखी दाम्पत्य जीवन की आकांक्षा ने उन्हे शास्त्रीय संगीत से गजल गायकी के क्षेत्र में ला खड़ा किया, ताकि पति-पत्नी दोनों साथ-साथ रह सकें। एच० एम० वी० से राजकुमार का एक एल० पी० "सांग्स यू विल लव' और रिजवी दम्पति के दो एल० पी०—'परछाइयां' तथा 'मुसव्विरे-गजल' निकल चुके हैं। देश-विदेश में अनेक जगहों पर सफल कार्यक्रम देते रहने के बाद अब फिर से, कुछ ही दिनों में रिजवी-दम्पति कनाडा की यात्रा पर जाने वाले हैं। वैसे, एच० एम० वी० से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त ये लोग बम्बई में

'इंडियन म्यूजिकल इंस्टीट्यूट' नामक एक संस्था भी चलाते हैं ।

रिज़वी दम्पति पिछले दिनों राजस्थान यात्रा पर आए थे । पहले जयपुर, फिर जोधपुर और अन्त में माउण्ट आबू । राजस्थान पर्यटन विभाग द्वारा माउण्ट आबू पर प्रतिवर्ष आयोजित किए जाने वाले ग्रीष्म समारोह के प्रमुख आकर्षण थे राजकुमार और इंद्राणी इस वर्ष । माउण्ट आबू की हसीन वादियों में उस अत्यन्त सुरीली और यादगार महफिल के बाद जब मैं इस गायक दम्पति के प्रति अपना आभार और मुबारकबाद पेश करने मंच के पीछे गया तो अगले दिन मुलाकात के लिए समय भी तै कर आया । ऊंची पहाड़ी पर स्थित शिखर टूरिस्ट बंगले के कमरा नं० 46 में रिज़वी दम्पति हमारा इन्तजार ही कर रहे थे, जब ठीक 11 बजे पत्नी विमला और मैंने दस्तक दी । लाल सलवार-कुर्ते में इंद्राणी पहचान में नहीं आ रही थी । वहीं खेल रही थी उनकी डेढ़ वर्षीया इकलौती बेटी रूना । मैंने पहले बात शुरू की राज साहब से, तब तक विमला और इंद्राणी रूना से खेलती रहीं ।

दो-तीन साल पहले अचानक ग़ज़ल में बहुत सारे नये लोग आए, गजल का एक क्रेज-सा पैदा हुआ, क्या वह क्रेज मीडिया द्वारा रचा गया क्रेज था ?

पुराने लोग, बेगम अख्तर, के० एल० सहगल वगैरह गजल गाते थे । उनके बाद मेंहदी हसन साहब एक नया मोड़ लाए कि एक गजल 10 से 50 मिनिट तक गाई जा सके, उसके शब्दों को आवाज के जरिये, राग के जरिये पब्लिक को बताया जाए कि ये भाव हैं । इस तरह का दौर जब चला तो लोग उधर भागे । लेकिन इस तरह की गजल में गाने का उतना ही रियाज चाहिए जितना क्लासिकल में चाहिए । नये ग़ज़ल गाने वाले यह तो सीख गए कि ग़ज़ल गाने का एक नया फैशन चला है, लेकिन रियाज उनके पास नहीं था । तो क्रेज यूं हुआ कि एक तो कुछ रिकार्ड कम्पनियां ऐसी निकलीं जिन्होंने उन नेसेसरी गजल के रिकार्ड बना डाले । वरना गजल गाना भी उतना ही मुश्किल है जितना क्लासिकल गाना है, बल्कि क्लासिकल के साथ एक आसानी है कि अगर आप सीख गए तो एक शब्द लेके उसको बार-बार इलेबोरेट करते रहते हैं । गजल में शेर को भी देखना है और राग के अन्दर से वो सुर निकालना है जो ग़ज़ल में सुन्दरता भरे । तो गजल गाने वाले को एक साथ कई बातें रखनी पड़ती हैं, उसको भाषा का भी पूरा खयाल रखना पड़ता है । पब्लिक चाहे तो गजल कहे, गायक को तो ग़ज़ल ही कहना है ।

क्या आप महसूस करते हैं कि यह क्रेज अब कुछ कम हुआ है ?

अभी तो नहीं हुआ है, मगर थोड़े दिनों में कम हो जरूर जाएगा ।

इस कमी की वजह क्या डिस्को का आगमन है ?

हिन्दुस्तानी संगीत पर डिस्को का असर होगा नहीं कभी। इतना ही रहेगा कि एक टेम्परेरी हवा चलेगी दो-चार महीने, फिर सब खत्म। देखिए नाज़िया हसन कितनी चली थी। अब मुझे नहीं लगता कि वो है, जबकि ग़ज़ल की दुनिया के लोग अब भी एस्टेब्लिश्ड हैं। क्यों? इसलिए कि उसमें गायकी का दम है, शेरों मे दम है। किसी शादी-ब्याह मे तो आप बजा लेंगे—'आप जैसा कोई···' लेकिन घर में आप चाहे कि चार एज्यूकेटेड लोग सुकून से बैठे हैं, तो वहां आप उसको बजाना शायद पसन्द नहीं करेंगे।

फिल्म संगीत ने किस तरह का असर डाला है?

फिल्म संगीत, आजकल तो इतने वाहियात किस्म का हो गया है कि उसका संगीत से कोई लेना-देना ही नहीं रह गया है। फिल्म वाले कहते हैं कि हमने सिचुएशन के हिसाब से ये गाना दिया है, लेकिन आप अच्छी पुरानी फिल्मे देखिए, उनमे भी तो सिचुएशन के हिसाब से गाना होता था। कितने सुन्दर-सुन्दर गाने मदनमोहन, रोशन, खय्याम, जयदेव जी ने दिए हैं। जयदेव जी अभी भी अपनी प्रथा पर चल रहे है, बड़े ज़बर्दस्त आदमी है।

पारम्परिक ग़ज़ल गायकी से आज की गज़ल गायकी किस तरह अलग है?

ऐसा है कि आप जैसे तलत साहब की गज़ल सुनिए। बड़ी अच्छी लगती है वो क्योंकि वो बड़ा सुन्दर गाते हैं। लेकिन उनमें वो क्षमता नहीं थी कि वो एक गज़ल को किसी राग में 10 मिनिट तक गा सके। ये दौर अभी चला है. पुराने लोग गाते हैं तो कई बार आपको गज़ल और फिल्मी गाने मे कोई फ़र्क ही नहीं लगता, क्योंकि धुन तो तकरीबन एक-सी ही होती है।

लेकिन यह जो कई लोगो की शिकायत है कि गज़ल बहुत ज्यादा शास्त्रीय होती जा रही है, खयाल होती जा रही है···

बात यह है कि खयाल मे आप ज्यादा वक्त ले सकते हैं, राग को बढ़ावा दे सकते है, इसलिए खयाल अंग तो हर चीज मे है। हां, गज़ल मे इस तरफ पहले ध्यान दिया नहीं गया था। वैसे गज़ल भी पुरानी चीज है। हां, यह सही है कि गज़ल में बहुत ज्यादा तानें-बानें करना अच्छा नहीं लगता। शेर को आपने समझाया, एक-दो तरह से आवाज के ढंग बताए, उतना ही अच्छा लगता है, बहुत ज्यादा क्लासिकल की तरह करना अच्छा नहीं लगता है।

आप कलाम मे क्या चीज देखते हैं जिसमें आपको लगता है कि इसको गाना है?

कलाम में पुख्तगी मैं पहले देखता हूं, चाहे वो सादा हो लेकिन उसमें कुछ लिट्रेरी भाव हो हो तो वो अच्छा लगता है। आप देखिए, बड़ी पुरानी गज़ल है बहादुर शाह ज़फ़र की—"लगता नहीं है दिल मेरा" आप किसी गंवार से भी

पूछिए तो वो बता देगा। पुरानी शायरी में वो दम था। लेकिन आजकल के प्रचार गाने वाले अपनी आडिएन्स बनाने के लिए, पैसा बनाने के लिए 'तेरे गालों की कसम, तेरे बालों की कसम' जैसी चीजें गाकर गजल का मर्डर करते हैं। पोइट्री का ध्यान ही नहीं रखते है, क्योंकि हर आदमी तो समझता नही है कि पोइट्री क्या है। हम एक गजल गाते हैं, डा० बशीर बद्र की—"होठो पे मुहब्बत के फसाने नही आते", उसकी सुन्दरता ही यह है कि उसमे बडे सूक्ष्म भाव हैं। देखिए, "पलकें भी चमक उठती हे सोते में हमारी। आंखों को अभी ख्वाब छुपाने नही आते।" इस तरह की पोइट्री हम पसन्द करते है।

आपके कुछ पसन्दीदा शायर?

दो-तीन शायर तो मेरे बडे पसन्दीदा हैं—डा० बशीर बद्र, कतील शिफाई, फैज अहमद फैज। नये मॉडर्न पोयट्स में निदा फाजली बड़े अच्छे है।

कंटेंट के लिहाज से गजल में इन दिनों बडे परिवर्तन आ रहे है। गजल सिर्फ रोमांटिक ही नही रह गई है, उसमे माडर्न सेंसिबिलीटी भी आती जा रही है। क्या ऐसी गैर-रोमांटिक गजलें गाना आपको अपील करता है?

गाता हूं। कई ऐसी गजलें मैं गाता हूं जो फ़कत रोमांटिक ही नही है। उनमें दुःख का भाव है, करुण भाव है—

मेरा आशय ऐसी ग़ज़लों से था जिनमे जिन्दगी की तकलीफें, हकीकतें बयान की गई हो। अभी हमारे यहां हिन्दी मे 2-3 साल से ऐसी गजलें ज्यादा लिखी जा रही है। दुष्यन्त कुमार को ही ले, उनको किसी ने नही गाया है। ऐसा क्यों?

मैंने गाया है उनको भी। लेकिन देखिए, उनका एक शेर है—तू किसी रेल सी गुजरती है। मैं किसी पुल-सा थरथराता हूं—ये अनम्यूजिकल वर्ड्स है। आप कहें कि मैं रेल की पटरी पर सोया था और कोई मुझको ढूढ़ने नही निकला—ये दुःख तो है लेकिन वर्ड्स के हिसाब से, म्यूजिकली बुरा लगता है। रेल रेल हम गायें तो बुरा लगेगा। लेकिन दुष्यन्त जी की ग़जलें बहुत सारी ऐसी भी हैं जो अच्छी भी है और जिन्दगी के करीब भी हैं।

मुझे लगता है कि अगर ऐसी ग़जलों को गाया जाए तो आडिएन्स बहुत जल्दी अपने को उनसे आइडेन्टिफाई करेगी।

मैं तो ख़ास तौर से यही कोशिश कर रहा हूं कि माडर्न पोयट्स की ग़जलें गाई जाएं।

कुछ ऐसी गजलें, जिन्हे और भी कई लोग पहले भी गा चुके है, जब आप भी उसी तरन्नुम मे गाते हैं तो उसमें क्रिएटिविटी कहां होती है?

यह तो फरमाईश पर गाना पड़ता है, वरना मै गाना पसन्द नहीं करता हूं।

अभी जो लोग गा रहे हैं उनमें आपकी खास पसन्द ?

वैसे तो सभी अच्छा गा रहे हैं···

यानी आप नाम नहीं लेना चाहेंगे !

नहीं, नहीं। जगजीत अच्छा गा रहे हैं, मुझे पसन्द हैं।

मैं चाह रहा था कि आप ऐसे कुछ नाम बतायें जो बावजूद अच्छा गाते रहने के लोकप्रिय न हो पाए हों।

हां, एक-दो लोग हैं जो गाते-गाते बुजुर्ग हो गए हैं बेचारे, उनसे बेहतर कोई गाता नहीं है। याकूब अली हैं उत्तर प्रदेश के। बहुत बेहतर गाते हैं, लेकिन अब तक कोई रिकार्ड ही नहीं बना है। राजस्थान के मुइनुद्दीन बहुत ही ज़बर्दस्त कलाकार है।

अपनी कोई गजल जो आपको बहुत ही प्रिय हो, बता सकेंगे ?

बशीर बद्र की गज़ल है—"सो खुलूस बातों में, सब करम खयालों में। बस ज़रा वफ़ा कम है, शहर के मवालों में।" यह 'परछाइयां' एल० पी० में है। बशीर बद्र की ही एक और गज़ल है, इसी एल० पी० में—"फूल बरसे कहीं शबनम कहीं गौहर बरसे, और इस दिल की तरफ बरसे तो पत्थर बरसे।" देखिए इसमें कितनी माडर्न बात है—"बारिशें खुली छत पे होती होंगी, मगर गम वो सावन है जो इन कमरों के अन्दर बरसे।"

यह जो बराबर घूमते रहना है, इसमें पारिवारिक जिन्दगी पर कुछ तो असर पड़ता ही होगा···

हां, होता तो है यार, मगर क्या करें।

इस बातचीत के दौरान इन्द्राणी जी अपनी बिटिया रूना को वात्सल्य की एक बड़ी डोज़ दे चुकी थीं, वह अपेक्षाकृत शांत थी। अवसर उपयुक्त जान मैंने इन्द्राणी जी की तरफ बात का रुख मोड़ा। बहुत जल्दी ही रूना हंगामा बरपा करने लगी तो राजकुमार जी एक अति आदर्श पति की तरह उसे गोद में ले बहलाने के लिए कारीडोर में निकल गए। इन्द्राणी जी से बातचीत के दौरान राज साहब पिता की भूमिका ही निबाहते रहे, बस एक बार वे इन्द्राणी जी के हमसफर बने, पर वह बात बाद में। मेरा पहला सवाल था—

आपने गज़ल गायकी को कब और क्यों अपनाया ?

गज़ल गाना मैंने शादी के बाद शुरू किया। पहले मैं क्लासिकल ही गाती थी। मैं किशोरी अमोनकर जी से संगीत सीखती थी। उनका ख्याल था कि मैं इसी फील्ड में आगे बढ़ सकती हूं, अतः मैं उनके साथ रहूं, गाऊं। पर शादी के बाद मैंने देखा कि इससे हमारी फेमिली लाइफ में बहुत डिस्टरबेंस होने लगा। इनका सर्कल अलग, मैं अलग चली जाऊं। प्रोग्राम भी अलग-अलग हों। न वक्त पर खाना न पीना। तो हम लोगों ने बैठकर डिसाइड किया कि यह चल नहीं

सकता। ये हैं मैं नही हूं, मैं हूं ये नही हैं। तब बेबी नही थी। बाल-बच्चे होंगे तो और भी मुश्किल होगी। तो हमने तै किया कि बेहतर यही होगा कि मैं भी गजल गाना शुरू कर दूं। यह भी तो गायकी का ही काम है। फिर, अब तो ग़ज़ल का ट्रेण्ड भी बदल गया है, तीन मिनिट की गजल का ज़माना चला गया है, अब तो गज़ल मे भी क्लासिकल है।

लेकिन आप तो बंगाली हैं और ग़ज़ल की भाषा उर्दू है। क्या इससे कोई दिक्कत नही हुई ?

मुझे तो उर्दू का बिल्कुल नालेज नही था। और मैं तो क्लासिकल गाती थी। उसमें तो वर्डिंग्ज का महत्त्व है भी नही, तो इन्होने बैठकर मुझे एक-एक शब्द सिखाया, उच्चारण ठीक करवाया, मैं उर्दू पढ़ने लगी, सीखी।

क्या अब आपको लगता है कि उर्दू पर आपका पूरा अधिकार हो गया है ?

बिल्कुल, और मैं तो कहती हू कि राजमर्रा की जिन्दगी मे भी यह होना चाहिए। जैसे लोग 'मजा-मजा' करते है तो बुरा लगता है। सुनने वाले, शौकीन लोग तक 'मजा' और 'जिन्दगी' बोलते है। उर्दू सबको आनी चाहिए।

किन शायरों का कलाम आपको खास तौर पर पसंद है ?

मुझे कलील शिफाई बहुत पसद हैं। बशीर बद्र, निदा फाज़ली और अहमद फराज भी अच्छे लगते है। गालिब, फिराक और फैज़ भी दिल को छूते हैं।

अब आपकी क्या आकांक्षाएं है ?

गायकी का फील्ड तो ऐसा है कि जितना ही आप आगे बढ़ें, उतना ही कम है। नाम तो आपका आने लगता है, अगर आप काबिल हैं। लोग जानने लगते हैं। लेकिन हमे लगता है कि यही काफी नही है। इसीलिए लगातार मेहनत करते रहते है, घर है, गृहस्थी है, फिर भी।

अभी कितना रियाज़ रोज करती हैं आप ?

सुबह दो-तीन घण्टा बैठते हे और शाम को भी बैठते हैं म्यूजिशियन्स के साथ। ऐसा है कि जितना भी हम करते हैं, लगता है कि कम है। लगता है, जैसा कर रहे हैं, उससे अच्छा कर सकते हैं। जब गाने बैठते हे तो आडिएन्स को चाहे न लगे, हमें लग जाता है कि रोज जो बात बनती है, उसमे कुछ कमी रह गई है। बिना रियाज किए ऐटिसफेक्शन नही होता है।

क्या आप ऐसा कोई क्षण बता सकती हैं जब आपको अधिकतम सेटिस-फेक्शन होता है ?

हां, जब सामने वाले (श्रोता) बहुत मजा लेते हैं।

और इसी वाक्य के साथ एक और वाक्य जोड़ा पास ही खड़े राज-

कुमार जी ने, ठीक उसी तरह जैसे वे मंच पर इन्द्राणी जी की सुरीली तान के साथ कोई खूबसूरत-सा शेर जोड़ दिया करते हैं—

और जब ये बहुत रियाज कर लेती हैं।

मैंने उन्हें छेड़ने के लिहाज से सवाल फेंका—'कहीं ऐसा तो नहीं कि जब आप ऐप्रीशिएट कर दें तभी इन्हें संतुष्टि होती हो ?' रिजवी साहब जरा भी झेंपे-शरमाये बगैर, एकदम मैटर आफ फैक्ट लहजे में बोले—

नहीं, रियाज जब नहीं होता तो बहुत मुश्किल हो जाता है।

बात को साफ किया इन्द्राणी जी ने—

हर बात में हम लोगों में क्लेश होने लग जाता है, चिड़-चिड़ होने लग जाती है। लेकिन उसमें भी आनन्द आता है।

मंच पर आपकी जो परफार्मेन्स होती है, उसमें कितना योजनाबद्ध होता है और कितना तात्कालिक ?

रियाज से ही यह सब होता है।

मैं जानना यह चाह रहा था कि जब आप एक डुएट रिजवी साहब के साथ गाती हैं तो आप कहां छोड़ेंगी, रिजवी साहब कहां से पकड़ेंगे, यह योजनाबद्ध होता है या आकस्मिक ?

कुछ-कुछ तो प्लैण्ड होता है, कुछ-कुछ स्पोंटेनियस। ज्यादा प्लैण्ड नहीं होता है। इतनी अण्डरस्टैंण्डिग होती है कि अपने आप ही सब हो जाता है। प्लैण्ड हो भी नहीं सकता। आर्टिस्ट का दिमाग क्रिएटिव होता है, वह हर बार कुछ नया करना चाहता है।

ऐसी कुछ गजलें बताइए जो आपको बेहद प्रिय हैं।

अभी हमने रिकार्ड की है एक ग़जल कतील शिफाई की—"वह दिल ही क्या", उसकी फरमाइश जरूर होती है। "आज हमने यूं खुशी कर ली" और "जब निगाह ने" भी मुझे बेहद पसंद हैं।

मेरा मन करता था कि यह बातचीत चलती रहे, बहुत कुछ और पूछना भी चाह रहा था मैं, लेकिन शायद नन्हीं रूना को यह पसंद नहीं था। वह अपना विरोध तीव्र स्वर में व्यक्त करने लगी थी। इन्द्राणी जी भी महज शालीनतावश ही ठहरी हुई थीं वरना उनका ध्यान बार-बार अपनी लाड़ली बिटिया की तरफ खिंच रहा था। राज साहब को भी मैं बहुत परेशान कर चुका था। मुझे अनिच्छापूर्वक अपने टेप रिकार्डर को ऑफ करना पड़ा। टेप तो बन्द हो गया लेकिन

मेरे जेहन में बार-बार गूंज रही थी रात सुनी इस दम्पति की सुरीली तानें, खूबसूरत अशआर, और बार-बार याद आ रहा था, इन्हीं से रात को सुना एक अशआर—

रात तेरी यादों ने दिल को इस तरह छेड़ा
जैसे कोई चुटकी ले नर्म-नर्म गालों में

साक्षात्कार और प्रस्तुति : प्रो॰ दुर्गाप्रसाद अग्रवाल,
78 शांति नगर, सिरोही-307001

'स्वर्ग भ्रष्ट' तथा 'दो गांव'

(शिक्षा विभाग, राजस्थान द्वारा प्रकाशित दो शिक्षकों के दो उपन्यास)

राजस्थान का शिक्षा विभाग सम्भवतः देश का एकमात्र शिक्षा विभाग है जो 1967 से अनवरत हर शिक्षक दिवस पर अपने शिक्षकों की कृतियों का पुस्तकाकार प्रकाशन कर रहा है। इस क्रम में 1983 तक हिन्दी, राजस्थानी, संस्कृत व उर्दू में कुल 81 पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी थीं। इस योजना के अन्तर्गत 1975 व 1978 में क्रमशः 'स्वर्ग भ्रष्ट' तथा 'दो गांव' उपन्यास भी प्रकाशित किए गए। यों 1977 में एक लघु उपन्यास तथा कुछ अन्य वर्षों में कतिपय राजस्थानी उपन्यास भी प्रकाशित किए गए। मैं इस समीक्षा में हिन्दी के दो उपन्यासों पर अपनी बात कहना चाहूंगा।

श्री भगवती प्रसाद व्यास के उपन्यास 'स्वर्ग भ्रष्ट' का सम्पादन प्रख्यात आलोचक डा० रामदरश मिश्र ने किया था। अपने सम्पादकीय में मिश्र जी ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं जिन्हें मैं किंचित् विस्तार के साथ उद्धृत करना चाहता हूं। इसलिए भी कि मिश्र जी की ये टिप्पणियां 'स्वर्ग भ्रष्ट' पर ही नहीं, राजस्थान के अनेक उपन्यासों पर लागू होती हैं। मिश्र जी के शब्द हैं—

"महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाले इस उपन्यास में परिस्थितियों का परिस्थितियों से और पात्रों का पात्रों से तनाव बहुत लक्षित होता है। घटनाएं सहज भाव से घटती जाती हैं और उनका वर्णन होता चलता है। भले स्वभाव के पात्र प्रायः एक-दूसरे का साथ देते हुए चलते रहते हैं। इसलिए उपन्यास अपने प्रभाव में कहीं भी बहुत गहरे नहीं उतरता।"

"लेखक के सामने समस्याएं तो हैं (जो महत्त्वपूर्ण हैं) किन्तु उन्हें अन्तर्विरोधों और तनावों के माध्यम से परस्पर रचने की कला का उसमें अभाव है। उपन्यास के प्रभाव की गहराई को कम करने वाली एक और बात है—वह है उबाऊ रूप से सामान्य से सामान्य चीज का विवरण प्रस्तुत करना। लेखक हर जगह महत्त्वहीन दृश्यों, क्रियाओं और मानसिक स्थितियों का लम्बा-चौड़ा विवरण प्रस्तुत करता है।"

'स्वर्ग भ्रष्ट' का घटना केन्द्र स्वाधीनता पूर्व का उदयपुर है। कथा स्वाधीनता

प्राप्ति के बाद के कुछ वर्षों तक चलती है। तेजस्वी साहित्यकार पण्डित विष्णु प्रभाकर (वस्तुतः ये बदले हुए नाम से उदयपुर के एक प्रख्यात साहित्यकार है) एक सांस्कृतिक संस्था 'शारदा मन्दिर' की स्थापना करते हैं। संस्था को रियासत से अनुदान मिलता है और फिर बन्द हो जाता है। अनुदान देने वालों की मानसिकता का बहुत अच्छा चित्रण लेखक ने किया है। फिर प्रभाकर जी धीरे-धीरे 'प्रजामण्डल' नामक राजनीतिक दल से जुड़ने लगते हैं। 'शारदा मन्दिर' भी राजनीतिक रूप लेने लगता है। इस प्रक्रिया मे प्रभाकर जी को पैसा तो मिलता है पर चुनाव में उनकी जमानत जब्त हो जाती है। वे न राजनीति मे रह जाते हैं न संस्कृति मे, बचता है एक सूनापन, एक पश्चात्ताप।

प्रभाकर जी की इस कथा के साथ-साथ कुछ अन्य कथाएं भी है। उनका छोटा भाई सुरेश अपने कैरियर की परवाह न कर हरिजन उद्धार के काम मे लगता है, विधवा राधा—जो एक हरिजन है—से विवाह कर लेता है पर अन्ततः लोकापवाद आदि उसे पागल कर डालते हैं। इसके विपरीत एक अन्य युवक वेश्या-पुत्री माधुरी से विवाह करता है और सुखी जीवन बिताता है। एक अन्य कथा में भूपेश अरुणा की ओर झुकता है परन्तु विवाह गोमती नामक अशिक्षिता से करता है और दुखी होता है।

पूरे उपन्यास पर टिप्पणी के लिए मैं फिर से रामदरश जी के शब्द ही उधार लूंगा—

"कुल मिलाकर यह उपन्यास समकालीन जीवन की समस्याओ और अन्तर्विरोधों की पहचान कराना चाहता है और इन समस्याओं की पहचान की प्रक्रिया मे वह प्रभाकर, सुरेश, भ्रमर, राधा, भूपेश, अरुणा, योगेश, प्रभाकर की मां, और पत्नी, भ्रमर की पत्नी आदि की अलग-अलग पहचान वाले पात्रों की सृष्टि करता है। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि ये सारे के सारे पात्र अच्छे हैं। यानी भले हैं, इनमें सद्-असद् का संघर्ष नही चलता, इसीलिए वर्तुल न होकर सपाट हैं। सुरेश ही एक ऐसा पात्र है जो राधा के साथ ब्याह करने के पश्चात् जटिल मानसिकता से गुजरता है।"

इस उपन्यास के प्रकाशन के तीन साल बाद अर्थात् 1978 मे प्रान्त के शिक्षा विभाग ने फिर एक उपन्यास प्रकाशित किया—'दो गांव' जिसके लेखक श्री मुकारब खान 'आजाद' एक स्नातक हैं, राजस्थान के एक छोटे-से गांव में अध्यापन करते हैं और सरिता आदि लोकप्रिय पत्रिकाओं में खूब छपते हैं। इस उपन्यास का सम्पादन किया प्रान्त के सुपरिचित आलोचक डा० आदर्श सक्सेना ने। 'दो गांव' उपन्यास स्पष्टत: एक सोद्देश्य रचना है। लेखक ने गांवों मे बसने वाले अधिसंख्य भारतीयो के जन-जीवन का चित्रण, रूढिवादिता, बेरोजगारी, नौकरी पर निर्भरता, धार्मिक अन्धविश्वास व शोषण आदि समस्याओं पर न केवल प्रकाश

ही डाला है बल्कि कथा-प्रवाह में ही इन समस्याओं के लिए समुचित समाधान भी सुझाए हैं।

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है, उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र कोई व्यक्ति न होकर दो गांव हैं—अहमदपुर और लाड़पुर। लगभग एक हज़ार घरों की बस्ती अहमदपुर का निवासी क़रीमबख्श अपने भाई मीरबख्श की बेईमानी का शिकार होता है। मीरबख्श करीम की जायदाद हड़पने के लिए पीर साहब की मदद लेता है। पीर साहब करीम को उसकी बेटी की शादी मीरबख्श के बेटे हमीद से करने की आज्ञा देते हैं और धर्मभीरु करीम इस आज्ञा के आगे हथियार डाल देता है। परन्तु ऐन वक्त जुबैदा ही घर से भाग 'आत्महत्या' कर सारी योजना पर पानी फेर देती है। कुछ दिनों बाद टूटे हुए करीम को एक लगभग अनाथ युवक सलीम का सहारा मिलता है। सलीम की मां राबिया भी उन्हीं के यहां रहने लगती है। इस तरह कथा का विस्तार होता है। अनेक झटकेदार मोड़ आते हैं और इसी क्रम में भारतीय ग्रामीण मुस्लिम के जीवन की अनेक विसंगतियां उभरने लगती हैं। धर्मप्राण लोगों के व्यक्तिगत जीवन में धर्मगुरुओं के नितान्त अनपेक्षित एवं स्वार्थ प्रेरित हस्तक्षेप से प्रारम्भ कर मुस्लिम समाज की अगणित अतार्किक व ग़लत मान्यताओं का चित्रण करते हुए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को लेखक अपनी चिन्ता का केन्द्र बनाता है। अपने कथानक के द्वारा वह कृषि-निर्भरता व ग्राम-संलग्नता का सन्देश देता है। इसी के साथ वह अन्ध नगरीकरण व पूंजीवादी शोषण की खिलाफ़त भी करता है। मंदिरों की पूंजी का सदुपयोग, ग्रामीण खेलों जैसे कबड्डी आदि का महत्त्व, उत्पादन में श्रमिकों की भागीदारी, रिटायर्ड व वृद्ध लोगों की सेवाओं का सदुपयोग—इन सारे बिन्दुओं को लेखक कुशलतापूर्वक अपनी कथा की माला में पिरोता चलता है। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की अन्तरंगता की आवश्यकता को रेखांकित करना भी वह नहीं भूलता है।

उपन्यास में अहमदपुर व लाड़पुर इन दो गांवों को क्रमशः प्रतिगामी व प्रगतिशील गांवों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लाड़पुर सेवा निवृत्त कर्नल मेघसिंह के प्रयत्नों से एक आदर्श गांव बन गया है और वहां वे सारी बुराइयां नहीं हैं जो अहमदपुर में हैं। भटकता हुआ सलीम असलम बन कर लाड़पुर में रहने लगता है और वहां के आदर्श जीवन से प्रेरित हो, अपने अहमदपुर की कायापलट करने का स्वप्न अपनी आंखों में संजोये लौटता है। जुबैदा भी हरियाली का नाम धारण कर लाड़पुर में ही रह रही है। उसकी 'आत्महत्या' के रहस्य पर से भी पर्दा हटता है। स्वभावतः उपन्यास सुखान्त है। जैसे उनके दिन फिरे…

उपन्यास की भाषा बोलचाल की हिन्दी है परन्तु रमजानी ग्रामीण बोली बोलकर इस भाषा को आंचलिक तेवर भी प्रदान कर देती है। ग्रामीण वातावरण

को सजीव करने और कतिपय अविस्मरणीय पात्रों—सलीम, जुबैदा, कर्नल मेघसिंह, करीम बख्श आदि का सृजन करने मे लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

परन्तु इस उद्देश्यपूर्ण, रोचक उपन्यास की सबसे अधिक खटकने वाली बात अत्यधिक लेखकीय हस्तक्षेप है। कथा-प्रवाह और अपने पाठकों की समझ पर अविश्वास कर, अपनी बात पूरे जोर से कहने के मोह में पड़, कथा का पर्दा हटा कर लेखक बार-बार पाठकों को सीधे ही सम्बोधित करने लगता है। थोड़े-से निर्मम सम्पादन से इस उपन्यास को अधिक चुस्त बनाया जा सकता था। उदाहरणार्थ बचत बैंक को समर्पित एक पूरा का पूरा अध्याय कथा-प्रवाह को जरा भी क्षति पहुंचाए बिना हटाया जा सकता था। मुझे पता नहीं, डा० आदर्श सक्सेना का काम बहुत सारे उपन्यासों मे से किसी एक उपन्यास को छांटना था या यह भी कि चयनीत उपन्यास को देखकर उसकी सलवटें निकालना। अगर यह उनका काम नहीं था, तो होना चाहिए था।

इन दोनों ही उपन्यासों में एक बात मुझे समान लगी—और वह है इनके रचनाकारों की सकारात्मक दृष्टि। आज जब चारों ओर अनास्था का कुहरा छाया हुआ है, क्या यह आस्था की चमक आह्लादक नहीं है?

भीतर-बाहर

राजस्थान का शिक्षा विभाग 1967 से निरन्तर अपने शिक्षकों द्वारा रचित साहित्य का प्रकाशन कर रहा है। पहले इनका सम्पादन विभागीय अधिकारीगण किया करते थे, परन्तु 1974 से विभिन्न विधाओं के प्रतिष्ठित रचनाकारो द्वारा इन संकलनों का सम्पादन करवाया जाता है। 1993 मे प्रकाशित पांच पुस्तकों मे से एक, 'भीतर-बाहर' का सम्पादन प्रख्यात कथाकार श्रीमती मृदुला गर्ग ने किया है। उन्होने इस संकलन की भूमिका मे रचनाकार शिक्षकों की तीन विशेषताओं को रेखांकित किया है : प्रथम, निम्न मध्यवर्ग की तमाम आर्थिक-सामाजिक विवशताओ को झेलने वाले शिक्षकों के पास तटस्थता का मुखौटा ओढ़कर स्थित-प्रज्ञ बने रहने की सुविधा नही होती, द्वितीय, शिक्षकों का युवा पीढ़ी से, अपने से आगे वाली ही नही बल्कि आने वाली कई पीढ़ियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, और तृतीय—समाज यह अपेक्षा करता है कि निर्मम और मूल्यहीन यथार्थ के बीच जीते हुए भी शिक्षक समुदाय अपनी आदर्शोन्मुख मानसिकता बनाये रखे। कहने की आवश्यकता नही कि श्रीमती गर्ग के इन निष्कर्षो का आधार 'भीतर-बाहर' संकलन के लिए प्राप्त कहानियां ही रही हैं।

संकलन मे कुल 41 कहानियां हैं जिन्हे मृदुला जी ने एक बड़े अम्बार से छांटा है। शिक्षा विभाग को उन्होंने सुझाव भी दिया है कि वह आइन्दा केवल टंकित आलेख ही आमंत्रित करे क्योंकि सम्पादक को हस्तलिखित रचनाएं पढने में कष्ट होता है। काश ! मृदुला जी उन स्थितियों को जान पाती जिनमे हमारा शिक्षक जीता और रहता है। दूर-दराज के गांव मे रहने वाला शिक्षक कहां से टंकित करवायेगा अपनी रचना को ? वह मृदुला जी की तरह राजधानी में तो रहता नही है। खैर !

सभी कहानियां इस बात का पूरा परिचय देती हैं कि रचनाकारो का अपने आसपास की जिन्दगी से गहरा परिचय है। इन रचनाकारों की यह ईमानदारी मुझे बेहद भली लगी कि इन्होंने उसी जीवन को अपनी कहानी का आधार बनाया है जिसे ये पूरी प्रामाणिकता के साथ जानते हैं। यही कारण है कि संकलन मे उच्च

वर्ग के जीवन पर कोई कहानी नही है। ज्यादातर कहानियां ग्रामीण अथवा निम्न मध्यवर्गीय परिवेश की कहानियां हैं। उसी से तो निकट का परिचय होता है हमारे अध्यापक का। अब्दुल मलिक खान की 'साइकिल' उस गरीब गब्बा की कहानी है जिसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न एक साइकिल है। सोते-जागते वह साइकिल का ही स्वप्न देखता है पर सारे प्रयत्नों के बाद भी उसका यह स्वप्न पूरा नही हो पाता है। लेखक को गब्बा की आशाओं-आकांक्षाओं को उभारने और फिर उनके चूर-चूर हो जाने की पीडा को चित्रित करने मे पूरी सफलता मिली है। इसी तरह माधव नागदा अपनी कहानी 'चाहत' में उस फूलचन्द फलवाले की सारी पीड़ा उभारकर रख देते है जो फलों का केवल विक्रेता है, भोक्ता नही, उसकी बच्ची तो फलों की तरफ प्यासी निगाहों से ताकने को ही अभिशप्त है। जनकराज पारीक की 'एक अनाथ का जन्मोत्सव', नंदकिशोर चतुर्वेदी की 'तगारी' तथा गौरी शंकर आर्य की 'मुई खाल की सांस' भी इसी तरह गरीबी की मार्मिक कहानियां है। पर इन सभी कहानियों में गरीबी के मार्मिक और प्रामाणिक चित्र मात्र हैं। सावित्री परमार की कहानी 'घाटी मे पिघलता सूरज' में अमीरी की ज़िन्दगी के त्रास और गरीबी की ज़िन्दगी के सुख चित्रित किये गए हैं। मीठा लाल खत्री की 'कही कोई अपना' में मजदूरों की मानवीयता का चित्रण है। कुल मिलाकर ये कहानियां स्थिति विशेष का चित्रण तो करती हैं परन्तु उसके कारणों की गहराई में नही जा पाती है। यह काम करती है अजीज़ आज़ाद की 'हत्यारे'। यहां दहेज दहन का मसला उठाया गया है, पर यह कहानी महत्त्वपूर्ण इसलिए बन सकी है कि स्थिति के चित्रण से आगे बढकर कहानीकार ने उसके कारणों की भी पड़ताल करनी चाही है। इसी तरह दिलीपसिंह चौहान ने 'दलदल' मे सत्ता की राजनीति में अध्यापक के इस्तेमाल किए जाने का बड़ा प्रामाणिक खाका खीचा है, साथ ही उसकी दुर्दशा का चित्रण करके कहानी को पूर्णता तक पहुचाना भी वे नहीं भूले हैं। बिशन स्वरूप वर्मा की 'उत्सर्ग' भी एक मार्मिक कहानी है जहां सच्चाई के लिए लड़ने वाले पत्रकार सचिन दा की दुर्दशा चित्रित की गई है। यही तो है आज का यथार्थ। चुन्नी लाल भट्ट की 'लवजी लम्बरदार' मे रिश्वत की सर्वव्यापकता का चित्रण है पर यह समझ में नही आता कि खुद महीपसिंह रिश्वत क्यों लेता है?

भगवती लाल व्यास की 'साझेदारी' दर्द की साझेदारी की मार्मिक और प्रभावशाली कहानी है। हम लोगों को ऊपर-ऊपर से देखकर कितना गलत समझ लेते हैं, और दर्द का सूत्र बांधने में कितना प्रभावी होता है, यही इस कहानी का कथ्य है। संकलन की दो सबसे अच्छी कहानियां हैं सुरेन्द्र अंचल की 'बदबू, बदबू और बदबू' तथा कृष्ण कुमार कौशिक की 'भूल'। बदबू में बाढ की विभीषिका तो पूरी शिद्दत के साथ साकार हुई ही है, हमारे चारों तरफ का बदबू भरा माहौल

भीतर-बाहर

राजस्थान का शिक्षा विभाग 1967 से निरन्तर अपने शिक्षकों द्वारा रचित साहित्य का प्रकाशन कर रहा है। पहले इनका सम्पादन विभागीय अधिकारीगण किया करते थे, परन्तु 1974 से विभिन्न विधाओं के प्रतिष्ठित रचनाकारों द्वारा इन संकलनो का सम्पादन करवाया जाता है। 1983 मे प्रकाशित पांच पुस्तकों मे से एक, 'भीतर-बाहर' का सम्पादन प्रख्यात कथाकार श्रीमती मृदुला गर्ग ने किया है। उन्होंने इस सकलन की भूमिका मे रचनाकार शिक्षकों की तीन विशेषताओं को रेखांकित किया है: प्रथम, निम्न मध्यवर्ग की समस्त आर्थिक-सामाजिक विवशताओ को झेलने वाले शिक्षकों के पास तटस्थता का मुखौटा ओढ़कर स्थित-प्रज्ञ बने रहने की सुविधा नही होती, द्वितीय, शिक्षको का युवा पीढ़ी से, अपने से आगे वाली ही नही बल्कि आने वाली कई पीढ़ियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, और तृतीय—समाज यह अपेक्षा करता है कि निर्मम और मूल्यहीन यथार्थ के बीच जीते हुए भी शिक्षक समुदाय अपनी आदर्शोन्मुख मानसिकता बनाये रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीमती गर्ग के इन निष्कर्पों का आधार 'भीतर-बाहर' सकलन के लिए प्राप्त कहानियां ही रही हैं।

संकलन में कुल 41 कहानिया हैं जिन्हें मृदुला जी ने एक बड़े अम्बार से छांटा है। शिक्षा विभाग को उन्होंने सुझाव भी दिया है कि वह आइन्दा केवल टंकित आलेख ही आमंत्रित करे क्योंकि सम्पादक को हस्तलिखित रचनाएं पढ़ने में कष्ट होता है। काश ! मृदुला जी उन स्थितियों को जान पाती जिनमें हमारा शिक्षक जीता और रहता है। दूर-दराज के गांव मे रहने वाला शिक्षक कहां से टंकित करवायेगा अपनी रचना को ? वह मृदुला जी की तरह राजधानी मे तो रहता नही है। खैर !

सभी कहानियां इस बात का पूरा परिचय देती हैं कि रचनाकारों का अपने आसपास की जिन्दगी से गहरा परिचय है। इन रचनाकारों की यह ईमानदारी मुझे बेहद भली लगी कि इन्होने उसी जीवन को अपनी कहानी का आधार बनाया है जिसे ये पूरी प्रामाणिकता के साथ जानते हैं। यही कारण है कि संकलन में उच्च

-वर्ग के जीवन पर कोई कहानी नही है। ज्यादातर कहानियां ग्रामीण अथवा निम्न मध्यवर्गीय परिवेश की कहानियां हैं। उसी से तो निकट का परिचय होता है हमारे अध्यापक का। अब्दुल मलिक खान की 'साइकिल' उस गरीब गब्बा की कहानी है जिसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न एक साइकिल है। सोते-जागते वह साइकिल का ही स्वप्न देखता है पर सारे प्रयत्नों के बाद भी उसका यह स्वप्न पूरा नही हो पाता है। लेखक को गब्बा की आशाओं-आकांक्षाओं को उभारने और फिर उनके चूर-चूर हो जाने की पीड़ा को चित्रित करने में पूरी सफलता मिली है। इसी तरह माधव नागदा अपनी कहानी 'चाहत' मे उस फूलचन्द फलवाले की सारी पीड़ा उभारकर रख देते हैं जो फलों का केवल विक्रेता है, भोक्ता नही, उसकी बच्ची तो फलो की तरफ प्यासी निगाहो से ताकने को ही अभिशप्त है। जनकराज पारीक की 'एक अनाथ का जन्मोत्सव', नंदकिशोर चतुर्वेदी की 'तगारी' तथा गौरी शंकर आर्य की 'मुई खाल की सास' भी इसी तरह गरीबी की मार्मिक कहानिया है। पर इन सभी कहानियों में गरीबी के मार्मिक और प्रामाणिक चित्र मात्र हैं। सावित्री परमार की कहानी 'घाटी में पिघलता सूरज' मे अमीरी की जिन्दगी के त्रास और गरीबी की जिन्दगी के सुख चित्रित किये गए है। मीठा लाल खत्री की 'कही कोई अपना' में मजदूरों की मानवीयता का चित्रण है। कुल मिलाकर ये कहानियां स्थिति विशेष का चित्रण तो करती हैं परन्तु उसके कारणों की गहराई में नही जा पाती हैं। यह काम करती है अजीज आज़ाद की 'हत्यारे'। यहां दहेज दहन का मसला उठाया गया है, पर यह कहानी महत्वपूर्ण इसलिए बन सकी है कि स्थिति के चित्रण से आगे बढ़कर कहानीकार ने उसके कारणों की भी पड़ताल करनी चाही है। इसी तरह दिलीपसिंह चौहान ने 'दलदल' मे सत्ता की राजनीति में अध्यापक के इस्तेमाल किए जाने का बड़ा प्रामाणिक खाका खीचा है, साथ ही उसकी दुर्दशा का चित्रण करके कहानी को पूर्णता तक पहुंचाना भी वे नही भूले हैं। विशन स्वरूप वर्मा की 'उत्सर्ग' भी एक मार्मिक कहानी है जहां सच्चाई के लिए लड़ने वाले पत्रकार सचिन दा की दुर्दशा चित्रित की गई है। यही तो है आज का यथार्थ। चुन्नी लाल भट्ट की 'लवजी सम्बरदार' मे रिश्वत की सर्वव्यापकता का चित्रण है पर यह समझ मे नही आता कि खुद महीपसिंह रिश्वत क्यों लेता है?

भगवती लाल व्यास की 'साझेदारी' दर्द की साझेदारी की मार्मिक और प्रभावशाली कहानी है। हम लोगों को ऊपर-ऊपर से देखकर कितना गलत समझ लेते हैं, और दर्द का सूत्र बांधने में कितना प्रभावी होता है, यही इस कहानी का कथ्य है। संकलन की दो सबसे अच्छी कहानियां हैं सुरेन्द्र अंचल की 'बदबू, बदबू और बदबू' तथा कृष्ण कुमार कौशिक की 'भूल'। बदबू में बाढ़ की विभीषिका तो पूरी शिद्दत के साथ साकार हुई ही है, हमारे चारों तरफ का बदबू भरा माहौल

भी बखूबी साकार हुआ है। वातावरण के प्रामाणिक चित्रण के लिहाज से इसे हिन्दी की बहुत अच्छी कहानियों के साथ रखा जाना चाहिए। 'भूल' में एक शिक्षक ने अपनी ही दुनिया की संवेदनहीनता का चित्रण करने का साहस किया है। कहानी पढ़ते-पढ़ते मुझे बार-बार सोमदत्त की बहुप्रशंसित कविता "फागुएवास्स ...''याद आती रही। मैंने श्री कौशिक की इससे पूर्व कोई और रचना नहीं पढ़ी परन्तु यह कहानी पढ़कर लगा कि या तो वे बहुत लम्बे समय से सृजनरत हैं या फिर वे एक और गुलेरी हैं। एक छोटी-सी बच्ची अरुणा, बहुत गरीब घर की। बहन जी की भूल से कमरे में बन्द रह जाती है और स्कूल गर्मियों की छुट्टी के लिए बन्द हो जाता है। कुछ दिनों बाद। मिलती है बच्ची की चीटियों खाई लाश। पर यह लिखकर मैंने कहानी के साथ अन्याय ही किया है। पूरी कहानी पढ़ने से ही ताल्लुक रखती है। यह कहते हुए मैं जरा भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं कि केवल इसी एक कहानी के लिए इस पूरे संकलन को सम्हाल कर रखा जा सकता है। यदि यही कहानी किसी अधिक प्रसार वाली पत्रिका में छपती तो लेखक न जाने कितने लोगों का ध्यान आकृष्ट करता। बहुत सारी अन्य कहानियों की मैंने चर्चा नहीं की है। वे औसत दर्जे की कहानियां हैं, प्रायः आदर्शवाद की चाशनी में डूबी हुई। परन्तु एक कहानी इन सबसे हटकर और है। प्रेम चक्रध्वज ने 'कायर' में मध्यइया भाषा और फिल्मी स्थितियों के बीच एक मास्टर को प्रस्तुत कर 'कुरू कुरू स्वाहा' वाले मनोहर श्याम जोशी का-सा कमाल पैदा किया है।

पुस्तक का मुद्रण, प्रस्तुतीकरण स्तरीय है। आवश्यक मुझे यह लगता है कि इस संग्रह के जो लेखक सम्भावनाशील हैं, विभाग उनकी प्रतिभा को तराशने के लिए भी कुछ प्रयत्न करे। 1967 से अनवरत शिक्षकों की रचनाओं का प्रकाशन कर तो विभाग ने एक पहल की ही है, अब यदि वह सम्भावनाशील शिक्षकों की लेखन-प्रतिभा को संवारने के लिए लेखक शिविर जैसी कोई व्यवस्था और करे तभी इस योजना के सही और पूरे लाभ सामने आ सकेंगे। बहरहाल, इस सुन्दर प्रकाशन के लिए विभाग को बधाई।

भीतर-बाहर (कहानी-संग्रह)। सम्पादक : मृदुला गर्ग। शिक्षा विभाग, राजस्थान के लिए सूर्य प्रकाशन, बीकानेर द्वारा प्रकाशित। 1983। 17-50

अंश-अंश-दंश

श्री हसन जमाल ने अपने चतुर्थ कहानी-संकलन में कुल नौ कहानियां प्रस्तुत की हैं। सभी कहानियां समाज के निचले और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों की व्यवस्था-कथाएं हैं। ये वे लोग हैं जिन्हें कदम-कदम पर अपमान और अवमानना के दंश सहने पड़ने हैं। अपमान करने वाले सम्पन्न वर्ग से हैं और अपमानित होने वाले विपन्न वर्ग से। 'अंश-अंश-दश' में यह स्थिति बहुत प्रभावी ढंग से उभरती है। कहानी का 'मैं' डाक्टर गुलाटी के क्लिनिक में अपना दांत दिखाने जाता है, अपनी सामर्थ्य से बाहर की फीस भी वह चुकाने को तैयार है पर उसे कई बार गैर-बराबरी का दंश सहना पड़ता है। एक-एक कर कहानीकार प्रभावशाली, समर्थ लोगों को क्लिनिक में लाता है और वे 'मैं' को प्रतीक्षा करता छोड़ डाक्टर के केबिन में जाते रहते हैं। 'मैं' के पास अपमान के घूंट पीते रहने के सिवा कोई चारा नहीं है। वह ज़रा-सा प्रतिरोध करने का प्रयास करता भी है तो औरत को छेड़ने का मिथ्या जुर्म आयद कर उसकी दुर्दशा कर दी जाती है। उसे थाने पर भी विश्वास नहीं है कि वहां उसके साथ न्याय होगा। कुछ-कुछ ऐसी ही स्थितियां 'अंत तक' में भी बनती हैं जहां बीमार वसन्ती के पति चपरासी गोपाल का शोषण उसका साहब करता है, गोपाल की विवशताओं पर ध्यान दिए बगैर। साहब का नीम पागल बेटा उसकी यातना को बढ़ाता है। इतना ही नहीं, एक अन्य लड़के को नौकरी दिलाने के लिए गोपाल पर चोरी का झूठा इलजाम लगाकर उसे जेल भी भिजवा दिया जाता है। बड़े बाबू स्थिति समझते तो हैं पर वे भी गोपाल की सहायता करने में खुद को असमर्थ पाते हैं। अदालती ज़िन्दगी से कहानीकार खुद जुड़ा है, यही कारण है कि इस परिवेश से वह सर्वाधिक प्रामाणिक कहानियां उठा पाता है। 'सिर्फ एक पेशी' का कथा तत्त्व तो बहुत विरल है—20 मील दूर से पेशी देने आया है भीखू, दिन-भर अदालत में मारा-मारा फिरा है, पर उस ग़रीब के साथ अदालत में नितान्त अमानवीय व्यवहार होता है, उसकी बात सुनी ही नहीं जाती है। कहानी एक साथ ही कई दिशाओं में, कई विसंगतियों पर प्रहार करती है—हमारी न्यायालय व्यवस्था पर, ग़रीब आदमी के साथ अमानवीय

व्यवहार पर, अदालती जिन्दगी के खोखलेपन पर, आदि। अदालती जिन्दगी से ही एक और कहानी उठाई गई है—'उंगलियां टेढ़ी सीधी' जिसका शीर्षक ही कथा की पूरी जानकारी दे देता है। बहुत सीधी सपाट कहानी है यह। पर इस सपाटपन के बावजूद, मैं इस कहानी का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगा। संग्रह की सभी कहानियों में निचले तबके के लोगों की व्यथा-कथा तो है पर कहीं भी उन्हें अत्याचार, शोषण के विरुद्ध खड़ा होता हुआ चित्रित नहीं किया गया है। इस तरह ये कहानियां हताशा, हार और टूटन की कहानियां बनकर रह गई हैं। केवल यही कहानी टेढ़ी उंगली की बात कर अपने नायक को एक नये रंग में प्रस्तुत करती है। पर, यहां भी टेढ़ापन है, विद्रोह नहीं। और यह टेढ़ापन भी किसका? कोर्ट के रीडर हरि बाबू का, जिसकी कोई भी 'खातिर' इसलिए नहीं करता है कि वह हरेक से सिधाई से पेश आता है। उसकी नाराजगी इसी बात को लेकर है कि रस्तोगी, जिसका उसकी कोर्ट में कोई काम अटका हुआ है, उसकी गैर मौजूदगी में उसके लिए अपमानजनक शब्दावली का प्रयोग करता है। यानी, यहां आक्रोश तो है, पर उस आदमी का जो स्वयं गलत अपेक्षा रखे हुए है। स्पष्ट शब्दों में, यह एक ईमानदार नहीं, बेईमान आदमी का आक्रोश है और इसीलिए बेमानी भी है। पर आक्रोश है तो। संग्रह की दो कहानियां नारी की नियति से सम्बद्ध हैं। 'आदमखोर' अपाहिज पति, उसकी पत्नी रूही व तीसरे आदमी नदीम के त्रिकोण की कहानी है। रूही तिल-तिल कर मरती रहती है, मर जाती है और पति उसे कधा भी नहीं दे पाता है। यह मरना मेलोड्रामेटिक बनकर रह गया है। कुछ ऐसा ही हादसा 'बड़ी रकम' के साथ गुजरा है। गरीब नूरा को आर्थिक सहायता के बदले मोहसिन के आगे समर्पण करना पड़ता है। इसी त्रासदी को गहराने के लिए नन्ही नसीबन को मोहसिन के पास भेजा गया है, कुछ-कुछ बतर्ज 'धरती अब भी घूम रही है'। कहानी का एक और आयाम है, मुस्लिम समाज में तलाक का हौवा, जिस के बल पर मोहसिन अपनी बीवी को डराकर अवैध सम्बन्धों को जारी रखता है। यहां निश्चय ही जमाल ने मुस्लिम समाज की एक बुराई को सामने लाने का प्रशंसनीय काम किया है। 'एक टुकड़ा एकांत' में लेखक ने आधुनिकता का नजरिया सामने रखा है पर वह उसकी रचना-प्रक्रिया का हिस्सा न बन पाने के कारण ऊपर ही ऊपर रह गया है। 'सीमा बद्ध युग' में ढाई सौ रुपये की पगार में 13 लोगों का पेट पालने वाले कमाल की यातना कथा है। निश्चय ही संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'उजड़ते दयार में' है। कथ्य का सम्बन्ध तो यहां भी गरीबी से ही है परन्तु बुधसिंह पत्रिका विक्रेता के रूप में एक सजीव, अविस्मरणीय चरित्र लेखक रच गया है। पहले आपात्काल और फिर अतिक्रमण हटाओ अभियान के नाम पर बेचारे बुधसिंह की फुटपाथी दुकान—जो उसकी आजीविका का एकमात्र

साधन है—उजाड़ दी जाती है। यहां कथाकार ने बहुत कुशलता से एक युवक के मुंह से इस तरह के अभियानों की कलई खोली है—"इन्हे (नगरपालिका वालों को)तो रेलवे वालों को मजा चखाना है जिन्होंने इनकी कमाई पर हाथ मारा है।" या स्वयं लेखक की टिप्पणी—"इन्हे यह भी मालूम है कि इन केबिनों को हटाने से शहर एकाएक खूबसूरत नही हो जायेगा। हां, रेलवे अधिकारियों की आंखें अवश्य खुल जाएंगी कि प्रशासन से टक्कर लेना आसान नही है। यह शहर हमारा है, इस शहर के मालिक हम हैं। इसको उजाड़ें कि संवारें।" कहानी के अन्त मे लेखक बुधसिंह की प्राणशक्ति भी बखूबी अंकित कर पाया है। "आप क्यों चिन्ता करते हो साहब ? मुझे कुछ नही होगा। दो-चार दिन मे पहले की तरह फुटपाथ पर बैठने की आदत पड़ जाएगी। सड़क से मेरा पुराना याराना है।" लेकिन इस अन्यथा मुकम्मिल कहानी मे एक दरार अवश्य खटकती है। बुधसिंह जैसे लोगों के लिए लेखक की टिप्पणी है—"ये तो मक्खियां है कि एक हाथ से उड़ाओ और दूसरे क्षण फिर आकर भिनभिनाने लगती है।" हसन भाई, भिनभिनाने वाली मक्खियां सहानुभूति और सद्भाव की पात्र नही हुआ करती। आप बुधसिंह को इनके साथ कैसे रख रहे हैं ?

इन सभी कहानियों से गुजर कर यह तो निश्चित होता है कि लेखक की चिंता नीचे तबके के लोगों को लेकर है। उनकी गरीबी, शोषण और सारी तकलीफें उसे बेचैन किए हैं। मुस्लिम समाज मे व्याप्त तलाक की कुरीति हो या भारतीय मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं का सन्देहपूर्ण व्यवहार, सभी तक उसकी दृष्टि गई है। 'सीमाबद्ध सुख' की बुढ़िया को सब्जी व्यापारी कहता है—"मंगती राडों, यहा भुखमरी बढ़ाती हो, अपने मुल्क क्यों नही चली जाती ?" पर यह कहानी शिल्पगत सावधानी के अभाव का परिचय भी दे जाती है। शुरू जिस बात को लेकर होती है, उसका निर्वाह करने की बजाय किसी अन्य बात पर जाकर खत्म होती है। इसी तरह कभी-कभी लगता है कि कहानीकार को किसी एक घटना की सामर्थ्य में विश्वास नही हो पाया है इसलिए वह प्रभाव को पुख्ता करने के लिए वैसी ही कई घटनाएं जुटाता चलता है, उदाहरणार्थ अंत तक, सिर्फ एक पेशी और अंश-अंश-दंश में।

सभी कहानियों का एक वर्ग विशेष से सम्बद्ध होना उस वर्ग विशेष के प्रति लेखक की गहरी चिन्ता को तो रेखांकित करता है, और यह अच्छा भी है कि लेखक एक वर्ग से इतनी शिद्दत से जुड़ा है कि फिर-फिर उसी वर्ग को अपनी कहानी में लाता है, पर बात यहीं खत्म नही होती, बल्कि यहां से शुरू होती है। केवल चिन्ता ही तो पर्याप्त नही है। इसी वर्ग मे बदलाव के अंकुर और विद्रोह की चिनगारी भी तो मौजूद है। लेखक से यह उम्मीद करना अनुचित नहीं होगा

कि वर्तमान का अंकन कर देने के बाद वह अपनी अगली कहानियों में इन पात्रों के और भीतर पैठ कर इस अंकुर या चिनगारी को भी उजागर करेगा। मेरे ख्याल से, वर्ग विशेष के पात्रों के प्रति उसकी चिन्ता सार्थक तभी होगी। मुझे उम्मीद है कि हसन भाई मेरी इस बात पर ध्यान देंगे।

कहानी संग्रह, पंख—पंख-दंश, कहानीकार—हसन जमाल, शेष प्रकाशन, जोधपुर, 1982, मूल्य 18-00

धरातल

लगभग साठ रचनाओं के, जिनमें अनेक उपन्यास भी हैं, लेखक प्रवासी राजस्थानी श्री व्रजभूषण साहित्य में सोद्देश्यता के पक्षधर हैं। तथाकथित आधुनिकता और निरर्थकता से उन्होंने सदा परहेज रखा है। इस उपन्यास के प्रारम्भ में उन्होंने बेबाक शब्दों मे कहा भी है—"लूले-लंगड़े यथार्थ की अपेक्षा बूढ़े आदर्श का महत्त्व मेरे समीप कुछ अधिक ही है।" इस उपन्यास में व्रजभूषण जी ने वर्तमान समाज में प्रेम-विवाहों की स्थिति पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। स्पष्टतः वे प्रेम-विवाह के विरोध में हैं। एक ही पिता रामलाल की दो बेटियां अरुणा व करुणा नितांत भिन्न मानसिकता की हैं। करुणा घर से भागकर रवि से प्रेम-विवाह कर लेती है। हमारा परम्परावादी समाज उन्हें पग-पग पर अस्वीकृत और प्रताड़ित करता है। स्वयं रामलाल निहायत ज़िद्दी आदमी है। वे मरने को मर जाते है पर अपनी बेटी को माफ़ नही करते। करुणा की करुण स्थितियां रामलाल के दिल पर तो घातक प्रभाव डालती ही हैं, बहिन अरुणा के सुखी दाम्पत्य जीवन में भी जहर घोलती हैं।

किसी भी उद्देश्यपरक रचना की भांति इस उपन्यास का कथानक भी सीधा-सपाट है। लेखक ने अपनी पक्षधरता को कहीं भी छिपाया नही है। और यही मेरी दृष्टि में, इस उपन्यास की कमजोरी है। रचना का दृष्टिकोण रचना से उभरना चाहिए। यहां ऐसा नही हो पाया है। फिर, केवल प्रेम-विवाह का विरोध कर देना ही तो पर्याप्त नही है। प्रेम-विवाह का विरोध करते समय हम दहेज की समस्या को कैसे भूल सकते हैं ? रामलाल भी तो अरुणा को भारी दहेज देते हैं—यह अलग बात है कि यह दहेज उनसे मांगा नही गया है। क्या दहेज की समस्या का एक हल प्रेम-विवाह नही हैं ? दूसरी बात यह कि उपन्यास में प्रेम-विवाह के बरक्स परम्परागत विवाह को नही रखा गया है। अरुणा-अजीत भी अन्ततोगत्वा प्रेमी-प्रेमिका ही सिद्ध होते हैं। उनका विवाह अरेंज्ड होते हुए भी प्रेम-विवाह से ज्यादा भिन्न नही है। फिर, प्रेम का ज्वार उतरने के बाद दम्पति में टकराहट का जहां तक सवाल है, वह तो इस उपन्यास में अरुणा-अजीत में भी है। इस स्वाभा-

विकता को नकारना मानव स्वभाव को नकारना होगा। लेकिन इन बातों के होते हुए भी उपन्यास चढ़ती उमर के उन किशोर-किशोरियों के लिए विशेष सार्थकता रखता है जिन्हें प्रेम के सिवा कुछ सूझता ही नहीं है। और प्रेम भी वस्तुतः प्रेम नहीं, दैहिक आकर्षण मात्र ही होता है। कहना अनावश्यक होगा कि उन्हें इस स्थिति तक लाने में हमारी बम्बइया फिल्मों और रोमांटिक कथा-साहित्य का विशेष योगदान है। ऐसे में प्रेम के अन्धों को राह दिखाने में इस उपन्यास की सार्थकता मैं स्वीकार करता हूं।

सोद्देश्य रचना की दृष्टि से विचार करें तो एक बात और सामने आती है। लेखक विवाह-संस्था को नहीं नकार रहा है। उसकी अनिवार्यता तो उपन्यास में स्वयं सिद्ध है ही। सवाल यह है कि इस विवाह संस्था में घुस आई बुराइयों का इलाज क्या है? यह मान भी लें कि प्रेम-विवाह भारतीय परिवेश के अनुकूल नहीं है, तो भी परम्परागत विवाह-संस्था में अब इतनी बुराइयां आ गई हैं कि उसे भी यथावत् स्वीकार करते रहना कठिन होता जा रहा है। सबसे बड़ी बुराई, दहेज, की चर्चा मैं कर ही चुका हूं। पति-पत्नी के समंजन की समस्या भी है। अगर इन सब बातों पर भी उपन्यास में विचार किया जाता तो, और कोई राह भी सुझाई गई होती, तो, उपन्यास और अधिक सार्थक बन जाता।

उपन्यास : घरोंदा, उपन्यासकार : व्रजभूषण, प्रकाशक : शिवांकुर, दिल्ली, 1984। मूल्य : 35.00।

सफेद पंखों की उड़ान

'सफेद पंखों की उड़ान' राजस्थान के सुपरिचित कथाकार हरदर्शन सहगल का प्रथम उपन्यास है। लेखक ने सफेद पंखों को बाबू वर्ग का प्रतीक माना है। उपन्यास का कथानक दो निम्न मध्यवर्गीय बाबुओं—धर्मेश तथा बाबूलाल व उनके परिवारों के इर्द-गिर्द बुना गया है। बाबूलाल हाल ही में विभागीय परीक्षा पास कर चपरासी से बाबू बना है और इसीलिए उसका तबादला भी हुआ है। इस तरह वह जिन्दगी की एक बाजी जीतकर भी हारा है। कुछ समय बाद बाबूलाल के नाम पन्द्रह हजार की लाटरी खुलती है, कुछ और रुपये कर्ज लेकर वह मकान बनवाता है। स्वाभाविक ही है कि बच्चों ने इनाम खुलने से अपनी जरूरतें पूरी होने की जो उम्मीदें लगा रखी थी वे पूरी नही होती हैं—इसलिए घर मे तनाव छा जाता है। लेकिन खुद के घर का सुख भी उन्हें ज्यादा समय तक नही मिल पाता है। मकान बेचकर वह बेटी नीलिमा की शादी करता है। दूसरी कथा बाबूलाल के मित्र, रेलवे के टेलीग्राफिस्ट धर्मेश की है। धर्मेश के घर की पहली झलक ही काफी प्रभावशाली है। उसकी बेटी मनिता ने छह महीने से थोड़े-थोड़े कर कुछ पैसे जोड़े थे कि अपने लिए एक ड्रेस सिलवा लेगी। मां ने उन पैसों से केरोसिन खरीद लिया। मनीता को गुस्सा आया और उसने सारा केरोसिन बिखेर दिया। इसी बात पर घर में महाभारत चल रहा है। धर्मेश अपने जीजाजी के जीजाजी की तीमारदारी के लिए अस्पताल में रहता है, उधर उसके दफ्तर में चल रही हड़ताल के दौरान उसे अनुपस्थित मान उसके नाम वारण्ट जारी कर दिया जाता है। उसकी गिरफ्तारी के बाद पुलिस उसके क्वार्टर को जबरदस्ती खाली करवा लेती है। तब इस विस्थापित परिवार को बाबूलाल का परिवार अपने यहां शरण देता है—बावजूद अपने छोटे घर और सीमित साधनों के। अंत इस सुखद बात पर होता है कि धर्मेश अपने बेटे नारायण के लिए बाबूलाल की बेटी प्रमिला का हाथ मांग लेता है—जाति-भेद को नजरअन्दाज करता हुआ। इन दो मुख्य कथाओं के अतिरिक्त एक उप-कथा भी है। उसका सम्बन्ध दत्ता साहब से है। वे कैसे घायल हुए, कैसे अस्पताल पहुंचे, उनके बेटे प्रेमचन्द ने धर्मेश के प्रति कैसी बेरुखी बरती आदि।

लेखक की दृष्टि बाबू वर्ग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है इसलिए वह इस वर्ग के लोगों के जीवन के सूक्ष्म ब्यौरों में रुचि लेता है और इनके पक्ष को विस्तार से प्रस्तुत करता चलता है। अपने समस्त अभावों, असंगतियों, विसंगतियों के बावजूद यह वर्ग—जिस पर हमारे देश का प्रशासन तन्त्र एक तरह से टिका हुआ है, संघर्षरत रहकर जीवन का पथ पार कर रहा है। इस यात्रा में इस वर्ग को कभी अपने ही हमसफरों की भितरघात का सामना करना पड़ता है तो कभी अप्रत्याशित रूप से सहयोग-सम्बल भी मिल जाता है। इसी वर्ग में जय जागरण प्रसाद सिंह जैसे मौका-परस्त, गिद्धनुमा लोग भी हैं, धर्मेश जैसे लोग जो अपनी आंतरिक नैतिकता की बलि नहीं चढ़ाने का मोल चुकाते है और बाबूलाल जैसे लोग भी जिनका दिल बहुत बड़ा है। इस सारी प्रक्रिया में राज्य, शासन, यूनियन, स्वयं बाबू वर्ग—सभी की परतें एक-एक कर खुलती चलती हैं और हरेक की कमियां कमजोरियां बड़ी ईमानदारी से उजागर होती हैं। लेखक की आस्था मानवीय चरित्र में है। सारी वेदनाओं और आघातों के बीच मानवीयता अक्षुण्ण रहती है। उसका यह सकारात्मक रुख इस कथा को उद्देश्यपूर्ण व सार्थक बनाता है।

प्रारम्भ में ही दे दी गई संक्षिप्त कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास की कथा सीधी-सपाट है। कथा में कोई घुमाव, पेच या जटिलता नहीं है। लेकिन लेखक ने इस कथा के लिए जो शिल्प चुना है वह जरा घुमावदार है। प्रायः वह वर्तमान की किसी घटना का वर्णन कर पाठक को चौंकाता है और फिर आहिस्ता-आहिस्ता उस घटना के कारणों पर से पर्दा हटाता है। इस शिल्प से, संभव है, रोचकता में थोड़ी बढ़ोतरी हुई हो, परन्तु कुल मिलाकर ज्यादा अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है क्योंकि पूरी कथा का मिजाज इस शिल्प से मेल नहीं खाता है। इस शिल्प से कथा की गति भी अवरुद्ध होती है। एक और कमजोरी इसकी भाषा की है। भाषा में अपेक्षित कसाव का अभाव है। बहुत थोड़े स्थलों पर चुस्त और सधी हुई भाषा का प्रयोग हुआ है। कथा की दृष्टि से भी दो-एक खामियों की ओर इंगित करना चाहूंगा। कथा जहां से प्रारम्भ होती है, वहीं खत्म नहीं होती। अन्त प्रमिला और नारायण की शादी तै होने पर है। क्या प्रमिला की शादी बाबूलाल की मूल समस्या थी? यह प्रश्न उठाना इसलिए जरूरी है कि उपन्यास की मूल संवेदना पारम्परिक है और इस तरह की संवेदना वाले उपन्यास में बाकायदा परिणति आवश्यक है। इसी तरह, कुछ प्रसंग बहुत जल्दी में निपटा दिए गए हैं, उदाहरणार्थ नारायण का मन्त्री बनकर अपने पिता का केस निपटवाने के लिए फोन करना। आश्चर्य, कि काम हो भी जाता है। विश्वसनीय नहीं बन पाया है यह प्रसंग। लेखक ने अपनी बात कहने के लिए भी बड़ी जल्दबाजी की है। वह शिक्षा व्यवस्था पर टिप्पणी करना चाहता है, सो नारायण और बाबूलाल के बीच

बातचीत करा दी है। लेकिन तब शायद वह भूल गया कि नारायण अपने पिता को ढूंढ़ रहा है और उस परेशान मनःस्थिति में वह इस तरह की अकादमिक बहस के मूड में नही हो सकता।

लेकिन ये टिप्पणियां यह सिद्ध नही करती कि उपन्यास बहुत साधारण स्तर का है। ये टिप्पणियां मैं इसलिए कर रहा हूं कि राजस्थान के हिन्दी उपन्यास से मुझे गहरा लगाव है और मैं उसे हर तरह से मुकम्मिल देखना चाहता हूं। मेरा खयाल है, निर्मम आलोचना इस आशा की पूर्ति मे किंचित् सहायक हो सकती है।

उपन्यास : सफेद पंखों की उड़ान, उपन्यासकार : हरदर्शन सहगल, प्रकाशक : स्वस्ति साहित्य सदन, बीकानेर, प्रथम संस्करण : 1984, मूल्य : 20.00

साहित्य समीक्षा के नये मान

उन्नीसवी सदी ने हिन्दी साहित्य को समीक्षा के नाम पर सैद्धांतिक आलोचना ग्रंथ, विद्वतापूर्ण शोध निबन्ध, साहित्येतिहास ग्रंथ और पुस्तक समीक्षाओं की परम्परा दी। बीसवी सदी ने पुस्तक समीक्षाओं से ही अपनी समीक्षा का विकास किया। हिन्दी समीक्षा को यद्यपि रीतिकालीन लक्षणग्रंथों की परम्परा भी विरासत मे मिली, परन्तु पाठक समुदाय मे आए बदलाव के कारण साहित्य मे जो परिवर्तन आया उसने नए समीक्षा मानों की आवश्यकता जल्दी ही महसूस करा दी। फिर भी सामन्ती मूल्य लम्बे समय तक हमारी समीक्षा पर हावी रहे और युग-स्थितियों के साथ रचनात्मक साहित्य मे जो बदलाव आया, समीक्षा में वही बदलाव बहुत बाद में आ सका।

हिन्दी समीक्षा में प्रारम्भ से ही दो विरोधी धाराएं विद्यमान रही हैं। एक रूपवादी, दूसरी यथार्थ अन्वेषी। पहली के जनक थे पण्डित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', दूसरी के पण्डित बालकृष्ण भट्ट। प्रेमघन मे सामन्ती रुचि थी, साम्राज्यवाद के प्रति स्पष्ट रुझान था, प्रतिक्रियावादी मानसिकता थी और समीक्षा के महज तीन प्रतिमान थे—रस, आनन्द का मजा और शब्द। इनके विपरीत बालकृष्ण भट्ट समाजशास्त्र-परक, मानव-सापेक्ष, देशकाल-सापेक्ष दृष्टि से वृहत्तर सन्दर्भों मे तर्कसंगत ढंग से साहित्य का विश्लेषण कर रहे थे।

समाज में अन्तर्निहित सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक संघर्षों के समानान्तर साहित्य समीक्षा मे भी दो विचारधाराओं का यह संघर्ष जारी है। प्रेमघन की परम्परा को जारी रखा मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने, तो इनके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस आलोचनात्मक यथार्थवाद का विकास किया उसे प्रकारान्तर से 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना ने बल दिया और रामविलास शर्मा ने पुष्ट किया। रामविलास शर्मा ने भाववाद से संघर्ष करने के लिए मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। वस्तुत: वे मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र को हिन्दी में प्रयुक्त करने वाले प्रथम समीक्षक हैं। शुक्ल जी के भौतिकवादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक

रूप में विकसित कर उसे सामाजिक बदलाव के एक समर्थ अस्त्र के रूप में प्रयोग करने तथा कविता तक सीमित हिन्दी समीक्षा का अन्य विधाओं तक विस्तार करने का श्रेय उन्हें ही जाता है। शिवदान सिंह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इसी दिशा में काम किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आलोचनात्मक यथार्थवादी धारा के ही समीक्षक थे और उनमें जनवादी प्रगतिशील तत्व आसानी से चीन्हे जा सकते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा में उभरने वाले नाम हैं मुक्तिबोध, अमृतराय और नामवर सिंह। प्रगतिवाद में वैज्ञानिक दृष्टि तो थी पर तब तक सन्तुलित मानदण्ड विकसित नहीं हो पाते थे, इस कमी की पूर्ति स्व० मुक्तिबोध ने की। इसी काल में प्रेमघन की परम्परा में अज्ञेय, भारती, जगदीश गुप्त आदि की समीक्षाएं भी जारी रहीं। एक उल्लेखनीय बात रही कि साठोत्तरी दौर में डा० नामवर सिंह ही रूपवादी समीक्षा के पक्षधर बन बैठे। वे अब कला को स्वायत्त मानने लगे, शब्द, भाषा और उसके प्रयोग को साधन नहीं साध्य मान बैठे। कुल मिला कर उन्होंने भाववाद और यथार्थवाद का अजीब-सा घोलमेल कर डाला।

उधर देश में पूंजीवादी-सामन्ती व्यवस्था के कारण आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक संकट गहराया और इधर साहित्य में रूपवादी रुझान ने समीक्षा के क्षेत्र में जड़ता और गत्यवरोध उत्पन्न किया। इस जड़ता को तोड़ने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है पिछले कुछ वर्षों में लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित धारदार और बेबाक, वैज्ञानिक समझ वाली सार्थक आलोचना ने। जिस समय हिन्दी की आचार्यवादी आलोचना 'शैलीविज्ञान' और 'रीतिविज्ञान' के भ्रामक वैज्ञानिक नामों का सहारा लेकर समीक्षा-कर्म को साहित्य की शव परीक्षा में प्रवृत्त कर रही थी, लगभग उसी समय हिन्दी में प्रतिबद्ध समीक्षा भी तेजी से उभरी। यह पद्धति कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण-संश्लेषण का दायित्व उठाती हुई शोषित मानवता का पक्ष ग्रहण करने लगी।

स्टीवेन मार्कस ने कहा था—समीक्षा परम्परा हर पीढ़ी में नवीनीकृत होनी चाहिए तथा नये रूप में अपनाई जानी चाहिए। जैसे-जैसे समाज बदलता जाता है उसे नये-नये फार्म में प्रयुक्त होना चाहिए। समीक्षात्मक परम्परा वर्तमान संसार के प्रति सतर्कता तथा जीवंतता के तर्क को लेकर सफलता से आगे बढ़ सकती है और इस प्रकार लगातार अपने को तथा अतीत को स्पष्ट कर देती है।

समाज और साहित्य दोनों में पिछले कुछ वर्षों में अनेक महत्त्वपूर्ण बदलाव आए हैं। आज साहित्य का पाठक वर्ग बहुत अधिक व्यापक हुआ है और साहित्य के उद्देश्य भी विविध आयामी हो गए हैं। ऐसे में समीक्षा-कर्म के लिए भी नई चुनौतियां उभरी हैं। पुराने औजार तो एकदम बेकार हो गए हैं। व्याख्यावादी या निष्कर्षवादी समीक्षा, बिंबों की मोहकता या भाषा के लालित्य पर मुग्ध होकर

रह जाने वाली समीक्षा, आज के साहित्य सन्दर्भ में अपनी समस्त अर्थवत्ता खो चुकी है। जहां डा० नगेन्द्र जैसे आलोचकों के लिए आलोचना-कर्म साहित्य की व्याख्या तक आकर समाप्त हो जाता है वहां बाद की समीक्षा इसी बिन्दु के बाद से अपना कार्य प्रारम्भ करती है। आज की इस समीक्षा का भाववाद और रूपवाद से स्पष्ट विरोध है। यह शोषित उत्पीड़ित समाज से प्रतिबद्ध है और मार्क्सवाद का वैचारिक आधार ग्रहण कर जीवन-जगत की वैज्ञानिक, तर्क संगत व्याख्या प्रस्तुत करती है। यह समीक्षा पद्धति साहित्य और जीवन को आवयविक मानती है।

आज की यह समीक्षा पद्धति कृति के दो पक्ष अन्तर्वस्तु तथा रूप स्वीकार करती है। इन्हीं दो पक्षों में द्वन्द्वात्मकता की तलाश इस पद्धति का प्रथम बिन्दु है। एण्टीथीसिस का यह द्वन्द्व इन दोनों पक्षों में अलग-अलग होता है और परस्पर भी इस द्वन्द्व का सम्बन्ध सामाजिक आधार से है। रचनाकार अपने परिवेश से, संस्कृति से, शिक्षा-दीक्षा से विवेकमय अनुभूति और अनुभूतिमय विवेक जुटाता है। इन्हीं के सहसंयोजन से विचारधारात्मक कल्पना का निर्माण होता है। रचनाकार इस सामाजिक संघर्ष को कलात्मक ढंग से अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। प्रतिबद्ध समीक्षा इस संघर्ष और इसके कारणों की गहराई से पड़ताल करती है।

यह समीक्षा रचना को जीवन्त बताने वाला दूसरा बिन्दु 'निषेध का निषेध' को मानती है। विश्व की सभी कालजयी कृतियां—भले ही वह रामचरितमानस हो या हैमलेट, इसी स्व के निषेध से उपजती हैं। यह बात कथ्य पर ही नहीं छन्द, बिम्ब, प्रतीक, विधा, सभी पर समान रूप से लागू होती है। आज का रचनाकार गुजरे हुए कल के शिल्प का निषेध कर ही अपनी रचना-यात्रा प्रारम्भ करता है।

आज की समीक्षा का तीसरा मान है परिमाण और गुण के अन्त.सबंध की जांच। प्रत्येक कृतिकार में दो विरोधी व्यक्तित्वों का मेल होता है। एक व्यक्तित्व होता है शोषक-शासक वर्ग की विचारधारा से सृजित, जिसको रचनाकार शिक्षा-दीक्षा, संस्कारों आदि से ग्रहण करता है। दूसरा व्यक्तित्व होता है यथार्थ को देखने-समझने तथा असंगतियों के तर्कपूर्ण हल की खोज से निर्मित। रचनाकार के इन दो व्यक्तित्वों में निरन्तर अन्तःक्रिया और संघर्ष चलता रहता है। युगीन अन्तर्विरोध भी होते ही हैं। कृति में ये सब प्रतिबिम्बित होते हैं। समीक्षक के लिए जांच का मुद्दा यह होता है कि रचना में शोषक अथवा शोषित किसकी पक्षधरता है और किस मात्रा में? और क्योंकि यह समीक्षा पद्धति अपना आधार वैज्ञानिक विश्लेषण-संश्लेषण को बनाती है, संश्लेषण में कृति के गुणात्मक स्वरूप को उसकी संपूर्णता से मात्रात्मक विश्लेषण द्वारा जानने-परखने की कोशिश करती है। इस प्रतिबद्ध समीक्षा पद्धति का चौथा मान है अन्तःसम्बन्ध की तलाश। यह पद्धति कृति की नितान्त स्वायत्त सत्ता को अस्वीकार करती है, कृति, अपने संबंधों और अन्तःक्रियाओं के माध्यम से सृजन की चेतना, समाज, इतिहास आदि से

सम्पृक्त होती है। अतः उसके विश्लेषण-संश्लेषण के लिए भी उसके अन्तःसंबंधों की पड़ताल जरूरी है। परन्तु संबंध एक ही रचनाकार की भिन्न-भिन्न रचनाओं मे भी होते हैं और एक ही विषय पर अथवा एक ही काल में रचित भिन्न-भिन्न रचनाओं में भी होते हैं। कृति को प्रासंगिकता और सार्थकता की परख के लिए इन सब की वैज्ञानिक परख जरूरी होती है।

यद्यपि आज भी अनेक आलोचक रूपवादी समीक्षा पद्धति के पक्षधर हैं और अनेक शैलीविज्ञान के सहारे कृतियों की परख में जुटे हैं, पर उनकी पद्धतियों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वहां व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के आधार पर कृति की रूपगत विशेषताओं का विश्लेषण मात्र होकर रह जाता है। लेकिन कृति कोई निर्जीव वस्तु नही कि उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार की बात कर मौन हो जाया जाय। यह अजीब लगता है कि एक पौधे तक की चर्चा उसकी पत्तियों के आधार और रंग पर आकर समाप्त नही होती परन्तु खाद, मिट्टी, जलवायु आदि की बात भी जरूरी मानी जाती है, पर हमारे ये समीक्षक कृति के लिए इतनी जहमत उठाने की जरूरत नही समझते। इसीलिए प्रतिबद्ध समीक्षा पद्धति कृति को जीवंत रचना मानती है। परिवेश से उसकी पूर्ण सम्पृक्ति को स्वीकार करती है और वैज्ञानिक पद्धति से न केवल उसके विश्लेषण अपितु संश्लेषण में भी रत होती है। समाज से रचना के अविच्छेद्य संबंध को स्वीकार करने के कारण यह पद्धति समाज के और विशेषतः शोषित वर्ग के सन्दर्भ में कृति की अर्थवत्ता का मूल्यांकन करती है। इस प्रकार पद्धति और इन मानों की सार्थकता न केवल साहित्य के लिए ही है अपितु समाज के लिए भी है।

परिशिष्ट

स्वातन्त्र्योत्तर राजस्थान के हिन्दी उपन्यास

क्रम	प्रकाशन वर्ष	लेखक	शीर्षक
1.	1948	रांगेय राघव	मुर्दों का टीला
2.	1950	श्री गोपाल आचार्य	विपथगामी
3.	1951	रांगेय राघव	सीधा-सादा रास्ता
4.			चीवर
5.	1952		हुजूर
6.		गोपीकृष्ण पुरोहित	अंगारे
7.		वंशीलाल यादव	टूटा तारा
8.	1953	लक्ष्मीकान्त शर्मा	नए अंकुर
9.		वंशीलाल यादव	सरोज
10.		रांगेय राघव	काका
11.			अंधेरे के जुगनू
12.	1954		यशोधरा जीत गई
13.			लोई का ताना
14.			रत्ना की बात
15.			भारती का सपूत
16.			उबाल
17.			देवकी का बेटा
18.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	संन्यासी और सुन्दरी
19.			दिया जला दिया बुझा
20.		परदेशी	औरत रात और रोटी
21.		वंशीलाल यादव	पहली शिकन
22.	1955	रांगेय राघव	बोलते खण्डहर
23.			अंधेरे की भूख
24.		शम्भु दयाल सक्सेना	मगरमच्छ

25.	1956	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	मिट्टी का कलंक
26.			नया इंसान
27.		शम्भू दयाल सक्सेना	बहूरानी
28.			सजला
29.		परदेशी	चट्टानें
30.			भगवान् बुद्ध की आत्मकथा
31.		रांगेय राघव	छोटी-सी बात
32.	1957	ज्ञान भारिल्ल	प्यासे स्वर्ण हिरण
33.		रांगेय राघव	कब तक पुकारूं
34.			लखमा की आंखें
35.			बौने और घायल फूल
36.		प्रेम भटनागर	भ्रांत जीवन
37.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	पथहीन
38.	1958	रांगेय राघव	बन्दूक और बीन
39.			पक्षी और आकाश
40.			धूनी का धुआं
41.			जब आएगी काली घटा
42.			राई और पर्वत
43.			राह न रुकी
44.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	खम्मा अन्नदाता
45.			आंचल में दूध आंखों में पानी
46.		परदेशी	बड़ी मछली छोटी मछली
47.		जगदीशप्रसाद दीपक	दो लघु उपन्यास (अज्ञात सुन्दरी की अस्मत पर, मोहनें मिस मारवाणी)
48.	1959	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	प्यास के पंख
49.			नयना नीर भरे
50.			धरती की पीर
51.			राहें अलग-अलग
52.			खून का टीका
53.			प्रोफेसर
54.			जग की रीत
55.			पथ की बंशी
56.			सपना

57.		सुमेर सिंह दईया	जाग उठा इन्सान
58.		परदेशी	सपनों की जंजीरें
59.	1960	रांगेय राघव	मेरी भवबाधा हरो
60.			महायात्रा (अंधेरा रास्ता, रैन और चंदा)
61.			पापी
62.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	घूंघट के आंसू
63.		उपेन्द्र शर्मा	धूप छांव
64.		सीता राम महर्षि	जीवन दान
65.		तारादत्त निर्विरोध	प्यासा लौट गया पनघट
66.		गिरधारी लाल व्यथित व गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव	गर्म आसू सर्द आहें
67.	1961	उमेश शास्त्री 'मधु'	शारदा
68.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	बड़ा आदमी
69.			गुनाहों की देवी
70.		शचीन्द्र उपाध्याय	मिट्टी का सिन्दूर
71.		सीता राम महर्षि	कीच का कमल
72.		रांगेय राघव	कल्पना
73.			धरती मेरा घर
74.			दायरे
75.			आंधी की नीवें
76.			आग की प्यास
77.	1962		पराया
78.			प्रोफेसर
79.			पतझड़
80.			आखिरी आवाज
81.		उमेश शास्त्री 'मधु'	संगीता
82.		राजेन्द्र सक्सेना	रेखा
83.		राजानन्द	प्यासे प्राण : (उषा और आदित्य)
84.		किशन शर्मा	तट की ओर
85.		शान्ति भारद्वाज राकेश	सूर्यास्त
86.		सुमेर सिंह दईया	चम्बल के किनारे
87.		परदेशी	जय महाकाल

88.	1963	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	सावित्री
89.			एक कली दो रंग
90.			एक कमरे की कहानी
91.		रमेश कुमार शील	भटकती लहरें, किनारा
92.		राजानन्द	नीली झील लाल परछाइयां
93.		शचीन्द्र उपाध्याय	कावेरी
94.		सीता राम महर्षि	ऊपर पानी नीचे कीच
95.		मन्नू भण्डारी	एक इंच मुस्कान
96.	1964	व्रजभूषण	यशवंत
97.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	सावन आंखों में
98.			ठकुरानी
99.		शरद देवड़ा	टूटती इकाइयां
100.		सुरेन्द्रदत्त बहुगुणा	तैरते पत्थर
101.		ज्ञान भारिल्ल	तरंगवती
102.			भटकते-भटकते (प्राकृत कुवलयमाला का रूपा०)
103.		सुदर्शन वाली	स्मृतियों का स्वर्ग
104.	1965	सुदर्शन वाली	साहिल और समन्दर
105.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	कलियां मेरे देश की
106.		रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	बदलती रेखाएं
107.		लक्ष्मीकान्त शर्मा	चटकती कलियां उभरते कांटे
108.		राजेन्द्र सक्सेना	अंकुर
109.		शचीन्द्र उपाध्याय	ठुकराए हुए लोग
110.		शुभू पटवा	उस दिन
111.		श्रीगोपाल आचार्य	निर्वसना
112.		परदेशी	त्याग का देवता
113.		व्रजपाल शास्त्री	गंगा की गोद में
114.	1966	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	अग्नि पथ
115.			केशरिया पगड़ी
116.			चूनर की पीड़ा (पुराना नाम 'अनावृत्त')
117.		धर्मेश शर्मा	तनाव
118.		रवि शेखर वर्मा	मंजिल दूर नहीं
119.		व्रजभूषण	मोर्चे पर

120.		शरद देवड़ा	[illegible] स्ट्रीट के [illegible] में
121.		सावित्री देवी	[illegible] ग्राम
122.		प्रेम भटनागर	गरिमा
123.		करणीदान बारहठ	प्रेमलता
124.			कलाई का धागा
125.		नन्दकिशोर आचार्य	तथागत
126.		एल० आर० शर्मा लोकेन्द्र	पुरस्कार
127.	1967	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	एक रास्ता और
128.			सत्य की आंखें
129.		अर्जुन अरविन्द	चन्दा आधी रात का
130.		राजानन्द	रूप-अरूप
131.		विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	रीछ
132.		ज्ञान भारिल्ल	निंदिया पुकारे
133.			शाह और शिल्पी
134.		शम्भू दयाल सक्सेना	भाभी
135.		प्रहलाद शर्मा	बालू की परतें
136.		पानू खोलिया	जो अपने थे (पुस्तकाकार नहीं)
137.		रमेश उपाध्याय	चक्रबद्ध
138.		परदेशी	दूध के बादल
139.	1968	प्रफुल्ल प्रभाकर	सीमा और विजय
140.		व्रजभूषण	लाखों में एक
141.		राजानन्द	यहां से कहां तक
142.		प्रेम भटनागर	टूटे स्वप्न—भीगे नयन
143.		लक्ष्मीकान्त शर्मा	प्रतिभा की रेखाएं
144.		ज्ञान भारिल्ल	कीर्ति पुरुष कुम्भा
145.			साक्षी है क्षिप्रा
146.		द्वारका प्रसाद पुरोहित	इन्द्रधनुष
147.		परदेशी	सिन्दूर की हथकड़ियां ('चिट्टानें' का नया नाम)
148.	1969	व्रजभूषण	जहां सुमति तहां सम्पति नाना
149.			मां का आंचल
150.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	एक और मुख्यमन्त्री

151.			पत्थर के आंसू
152.		सुमेर सिंह दईयां	भावनाओं के खण्डहर
153.		श्रीमती आनन्द कौर	कटते सागर
154.		राजा गंगा सिंह	यादों की परछाईं
155.	1970	धर्मेश शर्मा	जय गंगा धर बादशाह
156.		श्रीमती विद्या	दो किनारे
157.		व्रजभूषण	मनोरथ
158.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	पांव में आंख वाले
159.			रक्त कथा
160.			घूंघट और घुंघरू
161.		विनोद सोमानी 'हंस'	एक था मन्त्री
162.		श्रीगोपाल आचार्य	न्यायतीर्थ
163.		ज्ञान भारिल्ल	अमृतपुत्र
164.		सुमेर सिंह दईया	स्वप्न की पीड़ा
165.			बर्फ की चट्टान
166.			घेरे में कैद
167.		घनश्याम शलभ	अंधेरी चांदनी उजली छांव
168.		रमेश उपाध्याय	दण्डद्वीप
169.		अटल दीपक	एक बिम्ब तीन परछाइयां
170.		आचार्य सीताराम पारीक	आनन्द
171.		आर्टिस्ट नारायण कुमार	समय के पंख
172.		मदन मोहन शर्मा	कुंवर साहब
173.		करणीदान बारहठ	चाय के धब्बे
174.		राधेश्याम कौशिक	थकन की नींद
175.	1971	नफीस आफरीदी	हारा हुआ जानवर
176.		विनोद सोमानी 'हंस'	शतरंज का नायक
177.		विश्वम्भर नाथ उपाध्याय	पयोधर
178.		मणि मधुकर	सफेद मेमने
179.		व्रजभूषण	जलते दीप महकते फूल
180.			उपासना
181.		करणीदान बारहठ	कुहरा और किरणें
182.		मन्नू भण्डारी	आपका बण्टी
183.		स्वामी शिवसरणदास	बदलती सूरतें
184.		प्रेम सिन्हा	अपने-अपने रास्ते

185.		सुमेरसिंह दईया	आंधी के अवशेष
186.		विद्या भदौरिया	गन्दी गलियों का गुलाब
187.		सहदेव शलभ	एक धारा दो किनारे
188.		सत्येन्द्र पारीक	नो वैकेन्सी
189.		रमेश उपाध्याय	स्वप्नजीवी
190.		ललित कुमार आजाद	उजली
191.	1972	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	जनानी ड्योढ़ी
192.		शशि कुमारी	टूटे आकार
193.		मदन लाल मोदी	मां और बेटी
194.		उमेश शास्त्री मधु	लाल आकाश पीले फूल
195.			टूटते किनारे
196.	1973	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	आखरी सांस तक
197.			आदमी बैसाखी पर ('पथ की वंशी' का नया नाम)
198.		बंशी लाल यादव	भंवर में घिरी नावें
199.			नई सरहदें
200.		उमेश शर्मा	एक मादा बिच्छू की आत्मकथा
201.		उमेश शास्त्री	खुले अधखुले पृष्ठ
202.		ज्ञान भारिल्ल	समय की शिला पर
203.	1974	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	उबाल
204.			अपने-अपने दायरे
205.		ब्रजभूषण	हंसा तो मोती चुगे
206.		कुमर मेवाड़ी	वह एक
207.		बंशी लाल यादव	अंधेरों से दबी रोशनी
208.			नीरजा
209.		दिनेश नन्दिनी डालमिया	मुझे माफ करना
210.		प्रेम सिनहा	एक मूर्ति टूटी हुई
211.	1975	रामगोपाल गोयल	अग्नि पर्व
212.		ब्रजभूषण	एक और एक ग्यारह
213.		भगवतीप्रसाद व्यास	स्वर्ग भ्रष्ट
214.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	राजा महाराजा
215.		अजीज आजाद	टूटे हुए लोग
216.		घनश्याम साढ़ला	सूर्यमल्ल

217.		घनश्याम शलभ	अग्नि कमल की पंखुड़ियां
218.	1976	प्रफुल्ल प्रभाकर	बिखरे शैवाल
219.		विनोद सोमानी हंस	एक थी वंदना
220.		अशोक शुक्ल	प्रोफेसर पुराण
221.		लक्ष्मी कान्त शर्मा	वत्सला टूट गई
222.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	रानी महारानी
223.			सिंहासन और हत्याएं
224.		रांगेय राघव	प्रतिदान
225.			बोलते खंडहर (पुनर्प्रकाशन)
226.		विजय कलाल	पंखहीन
227.		एजाज सिद्दीकी	खामोश रिश्ते
228.	1977	उमेश शास्त्री	रेत की नदी
229.		रामदयाल	अंचल धारा
230.		स्वामी शिवलखनदास	ऊंची हवेली नीचा मगर
231.		महेशचन्द्र जोशी	नशा
232.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	एक नियति और
233.			ढोलन कुंजकली
234.		राम पुरोहित सुगम	कर्तव्य
235.		नफीस आफरीदी	खुले हुए दरीचे
236.		धनराज चौधरी	प्रवाह
237.		सोमेश्वर सक्सेना	दो शरीर एक समाधि
238.		ब्रजभूषण	ऐसा इन्सान
239.		उमेश शास्त्री मधु	मंगलोदय
240.	1978		रस कपूर
241.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	एक दीवार और
242.			यात्री उस पार के
243.			शापित वह
244.			बड़ा आदमी
245.		पुष्कर शर्मा	कष्टी
246.		मुकारब खान आजाद	दो गांव
247.		रामगोपाल गोयल	अंधेरे के विरुद्ध
248.		पानू खोलिया	सत्तर पार के शिखर
249.		भंवर भादानी	तीसरा संदर्भ

250.		राम सुगम	रिश्ते
251.		चन्द्र मोहन हाड़ा हिमकर	धधकती ज्वाला
252.		हरि शर्मा 'हरीश'	भूले भटके
253.		राजेन्द्र मोहन भटनागर	सूर श्याम
254.			मंच नायक
255.			दहशत
256.		व्रजभूषण	सोना माटी
257.			जहां चाह वहां राह
258.			रख पर रखा पत्त
259.			फकीर लकीर के
260.			चमत्कार को नमस्कार
261.	1979	हेतु भारद्वाज	बनती बिगड़ती लकीरें
262.		मणि मधुकर	पत्तों की बिरादरी
263.		घनश्याम शलभ	फौलाद की मोमबती
264.		द्वारका प्रसाद पुरोहित	चलती चक्की
265.		राजेन्द्र मोहन भटनागर	नया मसीहा
266.			एक अन्तहीन युद्ध
267.			देवलीना
268.		राजेन्द्र मोहन भटनागर	महात्मा
269.		धर्मेश शर्मा	सफेद संन्यासी
270.		व्रजभूषण	भूल का शूल
271.		श्रीगोपाल आचार्य	न्यायमूर्ति
272.		आनन्द कौर	कल का कुहरा
273.		सत्य शकुन	राणा सांगा
274.		विष्णु भाटी	प्यासा सपना
275.			रेशमा : एक राज
276.		मन्नू भण्डारी	महाभोज
277.		सुबोध गोविल	भावना
278.	1980	अशोक शुक्ल	सेवा मीटर
279.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	चेहरे मत उतारो
280.			रंग महल
281.			अलग-अलग आकृतियां
282.			कथा एक नरक की
283.			तलाक दर तलाक

284.		पानू खोलिया	टूटे हुए सूर्य बिम्ब
285.		राजानन्द	घड़ी दो घड़ी
286.		प्रफुल्ल प्रभाकर	ग़लत सन्दर्भ
287.		दिनेश नन्दिनी डालमिया	कन्दील का धुआं
288.		सुमेर सिंह दईया	काल पात्र
289.			शंख और सीपियां
290.		प्रेम सिनहा	मन के मीत
291.		राजेन्द्र मोहन भटनागर	अनन्त आकाश
292.		रामचन्द्र भाटी	मंजिल
293.		राम मुग्ध	सुबह का भूला
294.			नया मिलन
295.		सत्येन्द्र पारीक	एक और दायरा
296.		सुबोध गोविल	वकालत
297.		ब्रजभूषण	गोमती मंगल
298.		पुरुषोत्तम आसोपा	पप्पू
299.		भूरचन्द जैन	जिन दत्त सेठ
300.		आचार्य सीता राम पारीक	किनारे-किनारे
301.		प्रभा सक्सेना	टुकड़ों में बंटा इन्द्रधनुष
302.		श्रीगोपाल आचार्य	रतिप्रिया
303.		मोहरसिंह यादव	बंजर धरती
304.		प्रकाश माधुरी	कुंआरी सलीब
305.	1981	मणि मधुकर	मेरी स्त्रियां
306.			पिंजरे में पन्ना
307.		रामगोपाल शर्मा दिनेश	शेष नाग के किनारे (नया नाम)
308.		रामगोपाल गोयल	धरती रही पुकार
309.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	हजार घोड़ों का सवार
310.		रचना मणि	उनका हाल
311.		पुरुषोत्तम पोमल	और सूरज डूब गया
312.		सुमेरसिंह दईया	शेष परिधि
313.		हबीब कैफी	अनायक
314.	1982	जनार्दन राय नागर	शंकराचार्य
315.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	सन्धिकाल की औरत
316.		स्वयं प्रकाश	ज्योति रथ के सारथी

317.			जलते जहाज पर
318.		राजानन्द	एक बार फिर
319.		सुमेरसिंह दईया	काली सुरंग
320.		राजेन्द्र सक्सेना	बसन्त की प्रतीक्षा
321.		अशोक शुक्ल	हड़ताल हरिकथा
322.		सुबोध गोविल	पुत्रवधू
323.	1983	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	जाग मछन्दर गोरख आया
324.		दिनेश नन्दिनी डालमिया	और सूरज डूब गया
325.		उमेश शास्त्री	रूपराय
326.			बिल्व मंगल
327.			शाक
328.		यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	प्रजाराम
329.		धनराज चौधरी	तीसरा पहर
330.		वंशी साकेत	दिल के घाव
331.	1984	राजेन्द्र सक्सेना	सुबह का सूर्यास्त
332.		प्रफुल्ल प्रभाकर	विषजल
333.		हरीश गोयल	कालजयी यात्रा
334.		सुबोध गोविल	प्रसव पीड़ा
335.		सुमेरसिंह दईया	जल भंवर
336.		सत्यनारायण बीजावत	आंधी के दीप
337.		व्रजभूषण	धरातल
338.	1985	सुबोध गोविल	गहने
339.		घनश्याम शलभ	अंधी गांधारी के सपने

और ये वे उपन्यास हैं जिनके प्रकाशन वर्ष उनमें अंकित नहीं हैं अथवा ज्ञात न हो सके—

340.		ज्ञान भारिल्ल	कहां थे तुम
341.			जिन दिन देखे वे कुसुम
342.		नारायण दत्त श्रीमाली	एक डाल रजनीगंधा की
343.		सावित्री परमार	तीन लघु उपन्यास
344.		राम सुगम	दोषी कौन
345.		राजेन्द्र कुमार शर्मा	दर्द की मुस्कान
346.			रेत होती हुई नदी
347.			चौराहे पर

348.	द्वारका प्रसाद पुरोहित	चलती चक्की
349.	भगवती लाल शर्मा	उसका क्या होगा
350.	त्रिलोकी नाथ शर्मा	गहरे जख्म
351.	यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र	प्रणयोत्सर्ग
352.		बीच के सम्बन्ध
353.		खूनी किला
354.		चन्दन महल की रखैल
355.		नदी आग की
356.	महेशचन्द्र जोशी	मोम का घोड़ा
357.	जगदीश गुप्ता	भटकते-भटकते
358.	अर्जुन अरविन्द	दो रास्ते
359.		धरती के लाल
360.	उमेश शास्त्री मधु	उन्माद
361.		ठकुराइन
362.		यात्री उस पार के
363.		बन्ध्या कौन
364.		तीसरी आजादी
365.	शचीन्द्र उपाध्याय	झुकी हुई रेखाएं
366.		जलदाह
367.		आंगन की सीमाएं
368.	श्रीगोपाल आचार्य	अम्बपाली
369.	हमीदुल्ला खां	लहू पुकारेगा
370.		मशीनी मानव
371.	हेमन्तकुमार एम०सोलंकी	भाग्य रेखा
372.		लाल चूड़ियां
373.	शम्भूदयाल सक्सेना	धूप छांव
374.		प्रीत की रात
375.		दिगन्त रेखा
376.	माधव सिंह दीपक	तस्वीर की छाया
377.		बोलती लहरें
378.	सुमेर सिंह दईया	आंगन की सीमाएं
379.		स्वप्न और सत्य
380.	सुभाष दीपक	एक दराज दूध
381.	ओमानन्द ह० सारस्वत	अनसुलझी गांठें

382.	नरेन्द्र गोयल	दरीचे और आइने
383.	जगदीश उज्ज्वल	अनब्याही खामोशी
384.	विजय शर्मा	दो और एक
385.	नरेन्द्र चौहान	संगीता
386.	प्रेमचन्द गोस्वामी	सुबह का भूला
387.	राधाशरण जोशी	उलझन
388.	परदेशी	काला सोना
389.		जय एकलिंग
390.		कच्ची धूप
391.		कोनटिकी
392.		सपनों के विधाता
293.		औरत एक चेहरे हजार
394.	दिनेश नन्दिनी डालमिया	आहों की बैसाखियां
395.	राजेन्द्र मोहन भटनागर	महाबानो
396.	अमर सिंह यादव	अनुपम घाट

—o—